प्रकाशक—
जवाहिरलाल जैन, एम० ए०, विशारद
मन्त्री
श्री रामविलास पोदार स्मारक ग्रन्थमाला समिति
नवलगढ़

प्रथमावृत्ति १०००
१९३८

मुद्रक—
भगवतीप्रसाद सिंह
न्यू राजस्थान प्रेस
कलकत्ता

रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला

जवाहिरलाल जैन एम० ए०, विशारद

द्वारा सपादित

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम भाग

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

द्वारा लिखित

स्वर्गीय कुं० रामविलासजी पोद्दार

दो शब्द

कुँवर रामबिलासजी पोद्दार नवलगढ़ तथा बम्बई के लब्धप्रतिष्ठ व्यापारी सेठ आनन्दीलालजी पोद्दार के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म ३ सितम्बर सन् १९१३ को बम्बई नगर में हुआ था। 'प्रसाद चिन्हानि पुरः फलानि' के अनुसार उनकी गुण-गरिमा बाल्यकाल ही से प्रगट होने लग गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही प्राप्त करने के बाद रामबिलासजी बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए; वहाँ से उन्होंने मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। इसके बाद वे सेंट जेवियर्स कालेज में भरती हुए और सन् १९३४ में उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके एक वर्ष पहिले ही कलकत्ते के मान्य व्यवसायी सेठ भूधरमलजी राजगढिया की सुपुत्री कुमारी ज्ञानवती से उनका विवाह सम्बन्ध हो गया था। तदनन्तर वे एम० ए०, एल-एल० बी० का अध्ययन करने लगे, पर व्यापार सम्बन्धी उत्तरदायित्व के बढ़ते जाने के कारण उन्हें अध्ययन स्थगित कर देना पड़ा।

मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद से ही रामबिलासजी ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था और बी० ए० पास करने के बाद तो आनन्दीलाल पोद्दार एण्ड को० की सम्हाल और देख-रेख का अधिकांश कार्य-भार उन पर आ पडा। अपने थोड़े से व्यापा-

रिक जीवन मे भी उन्होंने बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर दिखाई और न केवल फर्म के प्रत्येक विभाग की ही उन्नति की किन्तु अनेक नवीन विभाग भी स्थापित किये।

व्यापारोन्नति से अधिक महत्वपूर्ण उनकी समाज-सेवा तथा देश-भक्ति थी। अध्ययन काल में भी वे असहाय छात्रों की हर तरह से मदद किया करते थे। पुस्तकें दिलवा देना, कपड़े बनवाना या फीस आदि दे देना उनके नित्य के कार्य थे। मारवाड़ी युवकों की उन्नति के लिये उन्होंने 'मारवाड़ी स्पोर्टिङ्ग क्लब' की स्थापना की। बम्बई के प्रसिद्ध 'मेरी मेकर्स क्लब' के भी वे संरक्षक तथा सस्थापकों में थे।

शिक्षा-संस्थाओ से रामविलासजी को विशेष प्रेम था। 'सेंट जेवियर्स कालेज' के गुजराती इन्स्टीट्यूट की स्थापना में उनका प्रमुख भाग था। 'मारवाड़ी विद्यालय' तथा 'सीताराम पोद्दार बालिका विद्यालय' के प्रत्येक समारोह मे वे बड़े उत्साह से भाग लेते थे। अपने पिता द्वारा स्थापित और सरक्षित सस्थाओं की सुव्यवस्था का उन्हें सदैव ध्यान रहता था। विशेषतः नवलगढ के 'सेठ जी० बी० पोदार हाई स्कूल' और साताक्रूज स्थित 'सेठ आनदीलाल पोदार हाई स्कूल' का तो प्रबंध भार बहुत कुछ उन्ही पर था और उनकी देखरेख मे इन सस्थाओ ने उल्लेखनीय उन्नति की।

रामविलासजी को देश का भी पूरा ध्यान था। अल्पवयस्क होते हुए भी वे आधुनिक युग के उन्नत विचारों से भली भाँति परिचित हो गये थे। उनके विचार पूर्णतया राष्ट्रीय थे, जिनमें समाजवाद

की भी कुछ झलक थी। कांग्रेस के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी और देश के महान् आन्दोलनों में उन्होंने बडे नाजुक मौकों पर सहायता दी थी।

सब से बडी बात उनमें यह थी कि अन्य लक्ष्मीपात्रों की तरह वे कभी अर्थ-मदान्ध नहीं हुए। उनमें सहानुभूति, उदारता और स्वार्थत्याग कूट कूट कर भरे थे। उनका सादा गार्हस्थ्य जीवन, कर्त्तव्यशीलता और निष्कपट व्यवहार अनुकरणीय था। सक्षेपतः रामबिलासजी बडे शिक्षाप्रेमी, विद्वान् और व्यापार-कुशल थे और इनसे भी बढ़ कर थी उनमें सदाचारिता, सौजन्य, सहृदयता और देशभक्ति। यदि वे जीवित रहते तो निःसन्देह समाज और देश की उनके द्वारा बहुत सेवा होती और वे जाति तथा देश का मुख उज्ज्वल करते, पर शोक है कि ६ जुलाई सन् १९३६ को कराल काल ने अकस्मात् मोटर दुर्घटना के बहाने इस युवकरत्न को केवल २३ वर्ष की अवस्था में अपना ग्रास बना लिया।

ऐसे होनहार युवक के अकाल देहावसान से उसके कुटुम्बीवर्ग, मित्रों तथा उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों को कितना शोक हुआ, यह शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। सबने मिल कर उसकी स्मृति रक्षार्थ **'श्री रामबिलास पोद्दार स्मारक समिति'** की स्थापना की। इस समिति ने मित्रों तथा प्रेमियों के विशेष आग्रह के कारण रामबिलासजी की जीवनी तथा स्मृतियों का सग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया और देश तथा विदेश के उच्चकोटि के साहित्य को हिन्दी-भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य

से 'श्री रामबिलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला' की स्थापना की। इसका सारा कार्यभार समिति ने इन पंक्तियों के लेखक पर डाला। इस ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ 'रामबिलास पोद्दार—जीवन रेखा और स्मृतियाँ'—जनता के सामने आ चुका है। और उसके वाद अव यह 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है। अन्य ग्रन्थ नियमानुसार यथासमय प्रकाशित होते रहेंगे, ऐसी आशा है।

ईश्वर दिवगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे और उसकी स्मृति में आरम्भ किये इस जनसेवा के कार्य को सफलता।

जवाहिरलाल जैन

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार

ग्रन्थकार-परिचय

साहित्य-मर्मज्ञ सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का जन्म सं० १९२८ वि० में मथुरा नगर में हुआ। इनके पिता का नाम सेठ जयनारायणजी था जो सुप्रसिद्ध सेठ ताराचन्दजी पोद्दार के प्रपौत्र थे। निम्न-लिखित वंशावली से पाठकों को सब स्पष्ट हो जायगाः—
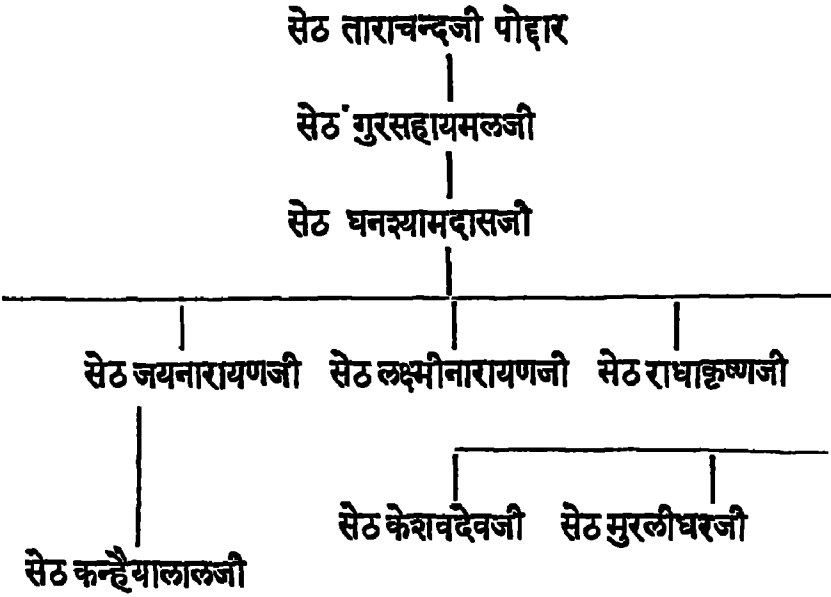
सेठजी के पूर्वजों का निवास-स्थान चूरू (बीकानेर राज्य) में था। इसके पश्चात् वे लोग रामगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में स्थायी रूप से रहने लगे। सं० १९०० के लगभग सेठ गुरसहायमलजी ने आकर मथुरा में श्री गोविन्ददेवजी का मंदिर बनवाया और उस समय से मथुरा में प्रायः निवास भी करने लगे।

सेठ जयनारायणजी अनन्य भगवद्भक्त थे, उनकी दानशीलता व्रजमण्डल में सुप्रसिद्ध है। उनको अंग्रेज़ी शिक्षा से अरुचि थी, अतः सेठजी को धार्मिक तथा व्यापारिक शिक्षा हिन्दी-संस्कृत में ही मिली। सं० १९४० में पिताजी का देहान्त हो जाने पर गृहस्थी और व्यापार का सारा भार इन्हीं पर आ पड़ा। इस समय इनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी, परन्तु इन्होंने धैर्य न छोड़ा, और व्यापारादि में संलग्न रहते हुए भी वे विद्याध्ययन की ओर प्रयत्नशील रहे। श्रीमद्भागवत, श्री बाल्मीकीय रामायण तथा श्री रामचरित मानस आदि के निरन्तर पठन तथा मनन के कारण इनके हृदय में काव्य-सम्बन्धी अभिरुचि जागृत हो गई और साहित्य-ग्रन्थों के अध्ययन का अनुराग बढता गया। सेठजी काव्य-रचना का भी अभ्यास करने लगे।

स० १९४७ में इनका भर्तृहरि के तीनों शतकों का व्रजभाषा पद्यानुवाद कालाकांकर (प्रतापगढ) के प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दोस्थान' में निकला तब से समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं जैसे सरस्वती, माधुरी, सुधा, वीणा आदि में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं है।

स० १९५९ में अलङ्कारप्रकाश नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। हिन्दी में यह अलङ्कार विषयक गद्यात्मक विवेचन का सर्वप्रथम ग्रन्थ था। इसमें सेठजी ने अलङ्कारों का नवीन शैली से विवेचन किया था। विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ और इसका सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने मध्यमा परीक्षा के पाठ्य ग्रन्थों में इसका समावेश किया।

इसके पश्चात् सेठजी का द्वितीय ग्रन्थ पण्डितराज जगन्नाथ कृत गङ्गालहरी का तथा तृतीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के ५ अध्यायों का समश्लोकी पद्यानुवाद पचगीत के नाम से प्रकाशित हुआ।

तदनन्तर इनकी प्रसिद्ध रचना 'हिन्दी मेघदूत विमर्श' जनता के सामने आई। इसकी विस्तृत भूमिका में लेखक ने मेघदूत सम्बन्धी अनेक विषयों की खोजपूर्ण गवेषणा की है और कालिदास के समय-निरूपण के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त मेघदूत के समश्लोकी पद्य तथा गद्यानुवाद के साथ-साथ उस विषय की ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक बातों का भी विवेचन किया गया है।

सं० १९८३ में काव्यकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ आगरा नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें अलङ्कारों के साथ रस, ध्वनि, व्यंग्य, गुण, रीति, काव्यदोष आदि सभी काव्याङ्गों का समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ भी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा के लिए स्वीकृत हुआ था। यही नहीं बल्कि हिन्दी के उद्भट लेखकों जैसे बा० जगन्नाथदास 'भानु' लाला भगवानदीन आदि ने भी अपनी रचनाओं में इसका पर्याप्त उपयोग किया है।

सं० १९९१ तथा ९३ में काव्यकल्पद्रुम का नवीन संस्करण रस-मजरी और अलङ्कारमंजरी के नाम से दो भागों में मुद्रित हुआ। इनमें

काव्य-साहित्य जैसे जटिल विषय प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर सरलतापूर्वक समझाये गये हैं। इन पुस्तकों में केवल विषय-निरूपण ही नहीं है किन्तु आचार्यों के विभिन्न मतों का आलोचनात्मक विवेचन भी है। ये दोनों ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा तथा आगरा एवं कलकत्ता विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षाओं में निर्वाचित हैं। अभी हाल में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने मध्यमा के परीक्षार्थियों के लिए संक्षिप्त अलङ्कारमंजरी इनसे लिखवा कर प्रकाशित की है।

सेठजी की नवीनतम कृति 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पाठकों के सामने है ही। यह ग्रन्थ कितना विवेचनापूर्ण, गम्भीर तथा उच्च कोटि का है, यह अध्ययन से ही ज्ञात होगा। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि हिन्दी भाषा में इस कोटि का ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ।

समालोचक के रूप में भी इनका हिन्दी संसार में एक विशिष्ट स्थान है। बा० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के काव्य प्रभाकर[1], लाला भगवानदीन की व्यंग्यार्थ मंजूषा,[2] और अलङ्कारमंजूषा,[3] प०

---

1 माधुरी वर्ष ७ खंड १ संख्या १ पृष्ठ ५४-६२ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका

माधुरी वर्ष ७ खण्ड १ संख्या ५ पृष्ठ ८३२-३७

२ माधुरी वर्ष ६ खण्ड २ संख्या ३ पृष्ठ ३१३-३१८

३ माधुरी वर्ष ८ खण्ड २ संख्या ३ पृष्ठ २९०-९५ और अलङ्कार

रामशंकर शुक्ल (रसाल) के अलङ्कार पीयूष,[1] कविराजा मुरारिदान कृत जसवन्तजसोभूषण[2] आदि पर इनके आलोचनात्मक लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं जिनका प्रतिवाद आजतक नहीं निकला।

सेठजी साहित्य-संसार में ही नहीं किन्तु मारवाड़ी समाज में भी एक विशेष स्थान रखते हैं। ये कुल परंपरागत सनातनधर्म के दृढ अनुयायी हैं। मारवाड़ी समाज ने आपकी सामाजिक सेवाओं का समुचित आदर किया है। हाथरस में होनेवाली प्रान्तीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का सभापतित्व इन्होंने ग्रहण किया था। अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी पचायत का जो प्रथमाधिवेशन बम्बई में किया गया था उसका सभापति इन्हीं को बनाया गया था। लक्ष्मणगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में होनेवाले अखिल सनातन-धर्मानुयायी मारवाड़ी युवक-सम्मेलन के भी सभापति सेठजी ही थे। इन अधिवेशनों में दिये गये भाषण इनके धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के अच्छे परिचायक हैं।

मंजरी की भूमिका तथा समालोचक त्रैमासिक हेमन्त १९८४ पृ० १५१-६०

१ माधुरी वर्ष ८ खण्ड २ संख्या ५ पृष्ठ ५८६-९२ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका

२ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ और काव्यकल्पद्रुम द्वि० सं० पृ० २२४-३२

विद्वान् होने के साथ-साथ सेठजी बड़े मिलनसार, सादगी-पसन्द और विनोद-प्रिय व्यक्ति हैं। एक बार सम्पर्क में आनेवाला भी इनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। व्यापारादि कार्यों से समय निकाल कर इन्होंने जो साहित्य-सेवा की है, इसके लिए ये वास्तव में बधाई के पात्र हैं।

जवाहिरलाल जैन

भूमिका

"वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥"

'साहित्य' शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय के संयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—सहित+ष्यञ्= मेलनम्। सहित्यस्य भावः साहित्यम्। अर्थात् जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हों वह 'साहित्य' कहा जाता है। शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि ग्रन्थों में साहित्य की जो—'तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वम् वृद्धि-विशेषविषयत्वं साहित्यम्' इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयों का ग्रन्थ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के ग्रन्थ-समूह के लिये साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं,
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवन्ति॥

—विक्रमाङ्कदेवचरित १।११

भूमिका

"वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥"

'साहित्य' शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय के संयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—सहित+ष्यञ्= मेलनम्। सहित्यस्य भावः साहित्यम्। अर्थात् जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हों वह 'साहित्य' कहा जाता है। शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि ग्रन्थों में साहित्य की जो—'तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वम् बुद्धि-विशेषविषयत्वं साहित्यम्' इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयों का ग्रन्थ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के ग्रन्थ-समूह के लिये साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं,
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवन्ति ॥

—विक्रमाङ्कदेवचरित १।११

इसमें संस्कृत के समस्त विषयों के ग्रन्थ-समूह के लिये सामान्य तथा साहित्य शब्द का व्यापकरूप में प्रयोग किया गया है। किन्तु प्राचीन-काल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है। जैसे—

'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।'

—कविराज राजशेखर काव्यमीमांसा पृ० ४

व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।'

—मुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमात्रिका पृ० २१

'मीमांसासारमेधात् पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्।
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः सौरिपादाब्जभृङ्गात्॥'

—प्रतिहारेन्दुराज[१]

'विना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथञ्चित्प्रथते कवीनां।'

—महाकवि मंखक, श्रीकण्ठचरित २।१२

इन वाक्यों में काव्य के लिये ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा किया गया है। अच्छा, अब यह विवेचनीय है कि सभी शास्त्रों के लिये व्यापक रूप में प्रयोग किये जाने वाले 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' के विशेष अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिन

---

१ देखिये उद्भट का काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या का अन्तिम पद्य।

के वाक्य उद्धृत किये गये हैं, वे साहित्याचार्य या काव्य-लेखक हैं और वे सभी लगभग ईसा की दशम शताब्दी में हुए हैं। किन्तु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये 'साहित्य' का प्रयोग प्राचीन समय में अन्य शास्त्रकारों द्वारा भी किया गया है। भर्तृहरि का समय मि० मेक्समूलर के मतानुसार ६५० ई० है[1]। भर्तृहरि महान् वैय्याकरण भी थे इनकी 'सार' नामक महाभाष्य की टीका का परिचय कराते हुए व्याकरणाचार्य कैयट अपनी 'प्रदीप' टीका में कहते हैं—

'तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोऽस्मि पङ्गुवत् ॥'

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य भर्तृहरि ने भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के लिये किया है—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

बस उपलब्ध ग्रन्थों में ईसा के सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के विशेष अर्थ में साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। और इसका कारण यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप में प्रयुक्त होते हैं। आचार्य भामह ने (जो ईसा की सप्तम शताब्दी के ही लगभग हुआ है) काव्य का लक्षण—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'

—काव्यालङ्कार १।२६

---

१ देखिये, India what can it teach us P. 347

यह लिखा है। किन्तु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रों में भी शब्द और अर्थ सम्मिलित ही रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ में क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा गया ? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की—

'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।'

—काव्यमीमांसा पृ० ५

इस परिभाषा द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा मे 'यथावत् सहभाव' पद द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में तुल्य-कक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रों में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है। किन्तु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक रुय्यक ने कहा है—

'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।'

—व्यक्तिविवेक व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुन्तक का कहना है—

"वाच्यार्थौ वाचकःशब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोयमेतयोः ॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाल्हादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।"
—वक्रोक्तिजीवित १।८-९

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रों में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दों के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में अर्थ भी केवल विषय-प्रतिपादक मात्र होता है किन्तु काव्य में जो अर्थ होता है, वह भी काव्य-मर्मज्ञ सहृदयजनों के चित्त को एक बार ही आल्हाद से परिप्लुत करने वाला होता है। फिर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षण होता है, बस काव्य के लिये 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

'साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥'

—वक्रोक्तिजीवित १।१७

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त परस्पर में स्पर्धापूर्वक मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य में वाचक (शब्द) की वाचकान्तर के साथ और वाच्य (अर्थ) की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति होना आवश्यक है। शब्द और अर्थ की ऐसी समान स्थिति अन्य शास्त्रों में न रह कर काव्य में ही रहती है। जैसे—

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥"

—कुमारसम्भव ५।७१

इस पद्य में भगवान शङ्कर के साथ विवाह के लिये तपश्चर्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छद्मवेश धारण करके गये हुए स्वयं श्री शङ्कर की उक्ति है—हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो

गये हैं। एक तो कलाधारी चन्द्रमा की वह कान्तिमती कला और दूसरी तू जो अखिल विश्व के नेत्रों को आल्हादकारिणी है।

भगवान् शङ्कर के नाम-वाचक सहस्रों शब्दों के होते हुए भी यहाँ 'कपाली' (नरकपालों की माला धारण करनेवाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित अर्थ का (जो शङ्कर को अत्यन्त घृणास्पद और निंद्य सूचन करना है उस अर्थ का) वाचक है। यदि 'कपाली' के स्थान पर यहाँ 'पिनाकी' आदि शङ्कर के नाम-वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं हो सकता था। प्रत्युत 'पिनाकी' (धनुष धारण करनेवाला) आदि शब्द द्वारा शङ्कर का वीरत्व आदि सूचन होता जो कि शङ्कर की निन्दा के प्रसङ्ग-विरुद्ध है। फिर यहाँ 'सम्प्रति' और 'द्वयं' यह दोनों शब्द भी कवि के इस विवक्षित अर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है अर्थात् अब से पहिले कपाली के संसर्ग में रहने के कारण एक चन्द्रकला ही लोक में शोचनीय हो रही थी पर 'सम्प्रति'—अब—'कपाली' जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करनेवाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है। यहाँ 'प्रार्थनया' शब्द भी अपना एक महत्व रखता है। अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा काकतालीय घटना द्वारा अकस्मात् नहीं हो गई है, किन्तु तू तो समझ बूझ कर ऐसे अमङ्गल और घृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्चर्या द्वारा प्रार्थना कर रही है। इन शब्दों के अतिरिक्त यहाँ 'कलावतः' 'कान्तिमती' और

'लोकस्य च नेत्रकौमुदी' यह विशेषणात्मक शब्द भी क्रमशः चन्द्रकला और पार्वतीजी के अलौकिक सौन्दर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके सम्बन्ध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं। अतः यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पर्द्धापूर्वक समान रूप में चमत्कारक है। यह प्रधानतया शब्द-सौन्दर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिक्दर्शन है। अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय-साहित्य का भी एक उदाहरण—

'तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

—रघुवंश १४।७०

इसमें भगवान् श्री रामचन्द्र की आज्ञा वश सीताजी को लक्ष्मणजी द्वारा वन में छोड़े जाने के बाद का वर्णन है कि—कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए। कौन से कवि—वही कवि जिनका वह शोक—जो व्याध द्वारा विद्ध किये गये क्रौञ्च पक्षी को देखने से उत्पन्न हुआ था—श्लोक में पराणित हो गया था।

यहाँ 'कवि' शब्द द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय 'वाल्मीकि' कह देने मात्र से दिया जा सकता था। किन्तु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध में महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुभूत क्रौञ्च पक्षी के वृत्तान्त द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम कारुणिक मुनि के अन्तःकरण का, वह शोकोद्गार जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था, श्लोक रूप में वलात् मुख से निकल पड़ा था, उनके अन्तःकरण की वह करुणाप्लावित विवश दशा, जो निर्जन वन में परित्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचन्द्र की प्राणप्रिया गर्भिणी सीताजी की तादृश अत्यन्त शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ जिस प्रकार करुण रस परिपूर्ण है उसी प्रकार उत्तरार्द्ध का अर्थ करुण रस का परिपोषक होने के कारण दोनों अर्थ स्पर्द्धापूर्वक सहृदय-जनों के हृदय के आल्हादक हैं।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकान्तर की तथा वाच्य के साथ वाच्यान्तर की समान रूप में सौन्दर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचकों (शब्दों) की वाच्यों के (अर्थों के) साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्यकक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

"ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥"†

अरुणोदय के प्रारम्भ समय में अस्तायमान निष्प्रभ चन्द्रमा को यहाँ काम-पीड़ा से क्षीण-काय होनेवाली कामिनी के कपोलों की पाण्डुता धारण करनेवाला कहा गया है। अतः जिस प्रकार यहाँ निदर्शना अलङ्कार की स्थिति द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार स्पन्द, मन्द आदि में वर्णों की साम्यता के कारण वृत्यानुप्रास है उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ और शब्द परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शोभायमान हैं। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान-रूप में सह-भाव (साहित्य) नहीं होता है वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

'कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूमि मकराकर मा वमंस्था।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि।'

—भल्लट शतक

---

† इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का और काव्यप्रकाश की वामनाचार्य की टीका में पृ० ५९९ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर भट्ट के अनुसार बताया गया है किन्तु यह वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनों ही में नहीं मिलता है।

इस पद्य में अन्योक्ति रूप में समुद्र को उपालम्भ दिया गया है कि हे मकराकर, तू अपनी उत्तुङ्ग तरङ्गावली से सञ्चालित पाषाणों के भयङ्कर प्रहार से इन रत्नों का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वय पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

यद्यपि अन्य शास्त्रों के समान शब्दों द्वारा यहाँ अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है। किन्तु काव्योपयोगी यहाँ शब्द-प्रयोग समान रूप से नहीं हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप में रत्नों की अवहेलना करने का समुद्र को उपालम्भ देकर कवि का ईप्शित तात्पर्य यह है कि उन रत्नों में के एक रत्न ने ही तेरा कितना उपकार किया है। किन्तु उत्तरार्द्ध में सामान्य रूप में रत्नों का महत्व न बतला कर एक विशेष रत्न 'कौस्तुभ' का प्रयोग किया है जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नों का महत्व-सूचन नही हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशंसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिये हुए उपालम्भात्मक अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र द्वारा किया जाना अनुचित नहीं हो सकता। यदि तीसरे पाद में—'किं कौस्तुभेन विहितो' के स्थान पर—'एकेन किन्न विहितो'—ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के विवक्षित अर्थ (उपालम्भ) की पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्दन्यास हो सकता था। क्योंकि उसका अर्थ यह होता कि 'जिनकी तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रत्न ही ने तेरा दिगन्त-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया।'

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सह-भाव काव्य में ही होता है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समुचित है। अस्तु। वर्तमान काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रन्थों के लिये ही रूढ हो रहा है।

काव्य या साहित्य क्या है। इस विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने अनेक रीति-ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अत्यन्त गवेषणापूर्ण गम्भीर विवेचन किया गया है। क्योंकि काव्य के रहस्य से अभिज्ञ होने के लिये एव उसके आनन्दानुभव के लिये काव्य-सम्बन्धी 'रीति' ग्रन्थ ही एक मात्र साधन हैं। केवल व्याकरण आदि शास्त्रों के जो विद्वान् हैं वे 'कर्णावतंस' और 'जघनकाञ्ची' आदि प्रयोगों के साहित्यिक रहस्यों को नहीं समझ सकते—साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते हैं कि इन शब्दों के प्रयोग में कौनसा निर्दोष है और कौनसा सदोष *। रघुवश आदि महाकाव्यों में किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थल विशेष पर क्यों किया गया है, और उन प्रयोगों में क्या विशेषता है—उन प्रयोगों के व्यङ्ग्यात्मक या अलङ्कारात्मक रचनाओं में क्या चमत्कार है उसका दिक्दर्शन ऊपर कराया ही गया है। इस रहस्य को साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं। व्याकरण आदि शास्त्रो के ज्ञान

* 'कर्णावतंस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकांची' के प्रयोग में दोष है।

से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियों के रचना-रहस्य का। आलङ्कारिकों के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥'

—ध्वन्यालोक १।७

अतएव संस्कृत-साहित्य के इतिहास में हमारे विचार में सर्व प्रथम काव्य-रीति ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में काव्य-शास्त्र के सुप्रसिद्ध रीति ग्रन्थों के † एवं उनके प्रणेताओं के परिचय तथा काल-निर्णय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक निरूपण किया गया है।

द्वितीय भाग में काव्य-ग्रन्थों के विषय, काव्य का प्रयोजन (फल), काव्य का हेतु एवं काव्य के लक्षण आदि पर विभिन्न आचार्यों के मतों का मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक विवरण और काव्य के सिद्धान्त, रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि का स्पष्टीकरण तथा इन पांचों सिद्धान्तों की प्रचलित पाँचों सम्प्रदायों

† जिनके अध्ययन से काव्य का स्वरूप एवं रहस्य तथा काव्य के रस, ध्वनि, अलंकार आदि भेदों का ज्ञान एवं दोष, गुण के विवेचन की शक्ति उत्पन्न हो उन ग्रन्थों को रीति ग्रन्थ कहते हैं।

(Schools) के प्रवर्त्तक प्रधान प्रतिनिधि साहित्याचार्यों के विभिन्न मतों के स्पष्टीकरण में यह विवेचन किया गया है कि किस-किस आचार्य ने रस आदि काव्य के मुख्य तत्वों में किस-किस तत्व को प्रधानता दी है। और उनके परस्पर विभिन्न मतों की आलोचना में उनका रहस्य उद्घाटन करने की भी यथासाध्य चेष्टा की गई है।

ऐसे महान् साहित्याचार्यों के मतों पर आलोचनात्मक विवेचन करने का यह अल्पज्ञ स्वय अपने को अनधिकारी समझता है। फिर भी आशा है सहृदय विद्वान्—'ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः' इस महाकवि भारवि की उक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की उपेक्षा न करेंगे।

अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के विशेष समूहों के समय तक कालक्रमानुसार किस-किस नाम के कितने अलङ्कार आविष्कृत हुए हैं उनकी विवरण-तालिकाएँ भी दी गई हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का क्रम-विकास किस-किस समय किस-किस साहित्याचार्य द्वारा किस प्रकार हुआ है, उस विषय पर भी प्रसङ्गानुसार दोनों ही भागों में प्रकाश डाला गया है।

आगे के भागों मे महाकवियों और उनके काव्य-नाटक आदि ग्रन्थों के विषय में विवेचन किया जायगा।

खेद है कि भारतवर्ष के प्रत्येक शास्त्र और शास्त्रकारों का इतिहास घोर तमसाच्छन्न है। इसका कारण यह है कि भारतीय प्राचीन शास्त्रकारों का लक्ष्य केवल सिद्धान्तों को सुरक्षित रखना और जन-समुदाय का उपकार करना मात्र ही रहा है—वे महानुभाव

ग्रन्थ-रचना द्वारा अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे, यही कारण है कि उन्होंने अपने विषय में स्वयं कुछ भी उल्लेख नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास का कार्य एक बड़ी विकट समस्या हो रही है। ऐसी परिस्थिति में इस विषय पर इस अल्पज्ञ का लेखनी उठाना यथार्थ में महाकवि कालिदास के शब्दों में— **'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः'** दुःसाहस मात्र है। किन्तु प्रस्तुत विषय पर हिन्दी-भाषा में स्वतन्त्र और आलोचनात्मक कोई ग्रन्थ न होने के कारण यह दुःसाहस करना पड़ा। इसके सिवा इस कार्य में प्रवृत्त होने का एक कारण यह भी है कि पाश्चात्य लेखकों ने संस्कृत-साहित्य के विषय में बड़ी निरकुश लेखनी चलाई है। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों के समय के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सर्वथा भ्रममूलक है। इन आर्ष ग्रन्थों का समय कुछ लेखकों ने ईसा की दो-चार शताब्दी के पूर्व और कुछ लेखकों ने तो ईसा के बाद तक भी निर्धारित कर दिया है। इसका कारण केवल उनका अपूर्ण अन्वेषण या उनकी भ्रमात्मक कल्पना मात्र ही नहीं, किन्तु उनको हमारी भारतीय सस्कृति को प्राचीनतम बतलाना भी अभीष्ट नहीं है। खेद का विषय तो यह है कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर भारतीय लेखकों ने भी उन्हीं पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण किया है। किन्तु हमने महाकवि कालिदास के—'सन्तः परीक्षान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व लेखको का अन्धानुसरण न करके प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वतन्त्र विवेचन किया है।

और इस विषय पर भी प्रकाश डाला जाना आवश्यक समझा है कि उन विद्वान् लेखकों ने कैसे निर्मूल आधारों पर अपने कल्पना-जाल की विशाल अट्टालिका निर्माण की है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रायः एक ग्रन्थ की दूसरे ग्रन्थ के साथ कुछ न कुछ सादृश्य का होना अनिवार्य है। अतएव ऐसे ग्रन्थो में विवेचना-शैली और आलोचनात्मक स्वतन्त्र विचारों की शृङ्खला आदि ही मौलिकता की कसौटी है। वह प्रस्तुत ग्रन्थ में है या नहीं और लेखक को इस कार्य में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है, इसका निर्णय साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं।

अवश्य ही इस ग्रन्थ मे विद्वान् इतिहासज्ञ एव काव्य-मर्मज्ञों को वहुत कुछ त्रुटियाँ दृष्टिगत होना सम्भव है। इसके लिये सहृदय महानुभावों की सेवा में यही निवेदन है —

'यदि भवति मदीयग्रन्थमध्ये प्रमादः
क्वचिदपि स महिम्ना शोधनीयो महद्भिः।
स्खलति गगनचारी प्रायशो नात्र चित्रं
भवति च गुरुहस्तालम्बनोऽपि प्रकारः।'

मथुरा,
अक्षय तृतीया
१९९५

विनयावनत
कन्हैयालाल पोद्दार

—००:००—

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

संस्कृत साहित्य का इतिहास

और

उसका विकास क्रम

(प्रथम भाग)

॥ श्री हरिःशरणम् ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[प्रथम भाग]

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह वन्द्या न ते कवयः' ॥*

—रुद्रट

काव्य की सर्व प्रथम उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई और इसका क्रम-विकास किन-किन सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा किस-किस समय में उनके निरूपित सिद्धान्तों द्वारा किस प्रकार हुआ, इस पर विवेचन करने के लिये प्रथम काल-सीमा का विभाग निर्दिष्ट किया जाना उपयुक्त होगा। हमारे विचार में वह काल-विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) वैदिक-काल।

(२) वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के प्रथम मध्यवर्त्ती काल।

---

* स्वर्गगामी हो जाने पर भी जिनकी अनल्प गुणगणशालिनी काव्यरूप वाणी प्रलय काल तक जगत को रञ्जन करती रहती है, वे महानुभाव कविगण क्यों नहीं वन्दनीय हैं ?

(३) पौराणिक अर्थात् महाभारत काल।

(४) पौराणिक काल के पश्चात् ईसवी सन् के प्रारम्भ से लगभग १२०० ई० तक।

(५) ईसवी सन् १२०० के पश्चात् लगभग ई० सन् १८०० तक।

वैदिक-काल

वैदिक-काल को हम अन्य लेखकों के समान कोई निर्दिष्ट काल नही कह सकते। यह विषय स्वतन्त्र विवेचनीय है, क्योंकि यह विषय अत्यन्त जटिल और विवादास्पद होने के कारण संक्षिप्त में नहीं कहा जा सकता। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि उस काल को हम अनादि और अज्ञात मानते हैं। यहाँ वैदिक-काल का उल्लेख केवल इसलिये किया गया है कि वेद ही काव्य का उद्गम स्थान है, यों तो वेद सभी विद्याओं के मूल-श्रोत हैं। व्याकरण, छन्द और ज्योतिष आदि वेद के अङ्ग ही माने गये हैं। श्री यास्क का 'निरुक्त' जो भाषा-विज्ञान का सर्व प्रथम ग्रन्थ है, वह वेद के अङ्गों में ही माना जाता है। धनुर्वेद और आयुर्वेद तो वेद संज्ञा से ही प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार नाट्य और काव्य की भी पञ्चम वेद संज्ञा है। श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—

'सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्' ॥

संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्ग सम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि' ॥

—नाट्यशास्त्र १। १५, १६, १७

अर्थात् श्री ब्रह्माजी ने ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेद से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय और रसों का ग्रहण करके नाट्य-वेद का निर्माण किया है। और महाभारत को जिसे श्री ब्रह्माजी और भगवान् वेदव्यास द्वारा महाकाव्य की संज्ञा दी गई है (जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा) पाँचवाँ वेद कहा गया है। केवल यही नहीं, वेदों का परोक्षवादात्मक होना प्रसिद्ध है। परोक्षवादात्मक सूक्तों में जिस प्रकार की अभिव्यञ्जना दृष्टिगोचर होती है, उसे हम व्यंग्यात्मक शैली निर्विवाद कह सकते हैं, एक उदाहरण देखिये—

'अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५

इस वेद मन्त्र में जो रूपकातिशयोक्ति है, उसमें प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध की अभिव्यञ्जना है, वही मुख्य है, अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यंग्य है। अतएव स्पष्ट है कि इस परोक्षवादात्मक

शैली पर ही काव्य का मुख्य तत्व ध्वनि-सिद्धान्त निर्भर है। इसके सिवा अलङ्कार-शैली की रचना भी वेदों में पर्याप्त है, कुछ उदाहरण देखिये—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततं'।

—ऋक्वेद १।२२।२०

'आनो वर्हीरिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा'।

—ऋक् १।२६।३

'वाश्रेव विद्युन्मिमाति त्रस्तं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि'।

—ऋक् १।३८।८

'सिंहाइव मानदन्ति प्रचेतसः पिशाइव सुधिशः विश्ववेदसः'।

—ऋक् १।६४।८

'अवोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुवासम्।
यह्वाइव प्रवयामुज्जिहानाः प्रमानवः सस्रतेनाकमच्छ'।

—सामवेद प्रथमाध्याय अष्टमी दशति।

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टि वर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'।

—यजुर्वेद ३।६०

'अयमुते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे'।

—अथर्व वेद काण्ड २०

इन वेद मन्त्रों में उपमा अलङ्कार है। उपमा के अतिरिक्त अन्य अलङ्कार भी वेदों में दृष्टिगत होते हैं—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'।

—कठोपनिषत् अ० प्रथम तृतीय वल्ली

इसमें 'रूपक' अलङ्कार है। और देखिये—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'॥

—मुण्डकोपनिषत् तृतीय मुण्डक खण्ड १।१

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

'तत्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानोहविर्भिः।
अहेळमानो वरुणोह बोध्युरुशं समान आयुः प्रमोषीः'॥

—ऋग्वेद १।२४।११

इसमें उदात्त अलङ्कार है।

'त्वं विश्वस्यमेधिरे दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रतिश्रुधिः'।

—ऋग्वेद १।२५।२०

इसमें पर्याय अलङ्कार है।

'शन्नो देवी रभीष्टये शन्नो भवन्तु पीतये। शंयोरभिश्रवन्तु नः'।

—साम अध्याय १।३३

इसमें लाटानुप्रास अलङ्कार है।

'यत्र वाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव'।

—शुक्ल यजुर्वेद अध्याय १।४८

इसमें पुनरुक्तवदाभास शब्दालङ्कार और उपमा अर्थालङ्कार भी है अतः शब्दार्थ उभयालङ्कार संसृष्टि है।

अधिक उदाहरण अनावश्यक है, इन्हीं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि वेदों में सत्काव्य रचना पर्याप्त संख्या में है, अतः वेद को ही हम काव्य और नाट्य का मूल-श्रोत निस्सन्देह कह सकते हैं।
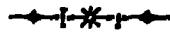
वैदिक और पौराणिक काल का मध्यवर्ती काल

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

'विहितघनालङ्कारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम्।
शक्रायुधमिव वक्रं वल्मीकभुवं मुनिं नौमि'॥

वैदिक और पौराणिक काल के मध्यवर्ती समय में अर्थात् पौराणिक काल के प्रारम्भ के प्रथम काव्यात्मक अभूतपूर्व वर्णन का ग्रन्थ केवल वाल्मीकीय रामायण उपलब्ध है।

वाल्मीकीय रामायण में केवल काव्यात्मक वर्णन ही नहीं किन्तु उसका नाम भी आदि काव्य है। उसके प्रतिसर्ग के अन्त में—'इति श्री आदि काव्ये' का प्रयोग है। उसकी रचना भी सर्ग बन्ध है, जैसा कि महाकाव्यों में होने का नियम उसीके आदर्श से प्रचलित ग्रन्थों में पाया जाता है। वाल्मीकीय रामायण रस की दृष्टि से देखा जाय तो करुण रस प्रधान है। यों तो उसमें प्रसङ्गानुसार वीर, रौद्र, भयानक और अद्भुत आदि अन्य रसों का भी समावेश है।

पर उनमें प्रधान 'करुण' रस ही है। श्री वाल्मीकीय रामायण के करुणाप्लुत वर्णनों का पाठ, ऐसा कौन सहृदय होगा जो अपनी स्वाभाविक शृङ्खलाबद्ध वाणी से कर सकता हो। महर्षि वाल्मीकिजी के मुख से क्रौञ्चपक्षी-युग्म के कारुणिक दृश्य को देख कर जो—

'मा निषाद् प्रतिष्ठांत्वमगमः शास्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'॥

यह शोकोद्गार सहसा निकल पड़ा था, और उस समय जो महर्षिवर्य के हृदय-पटल पर अङ्कित हो गया था, वही 'शोक' करुण रस का स्थायी रूप रामायण में सर्वत्र व्याप्त है। और वही सारी रामायण की रचना का आधार है, अतः करुण रस ही रामायण में प्रायः सर्वत्र ध्वनित हो रहा है। उक्त श्लोक में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि है—जो काव्य के सर्वोत्तम भेद ध्वनि में मुख्य है। श्री रामायण को यह रस की स्थिति ही सत्काव्यत्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। पर इसके अतिरिक्त उसमें ध्वनि के अन्य भेद-गर्भित भी रचनाएं हैं—

'रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निश्वासान्धइवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते'॥

—अरण्य १६।१३

इसे साहित्य के सर्व प्रधान आचार्य श्री आनन्दवर्द्धन आदि ने अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि के उदाहरण में उधृत किया है। यही

नहीं, अनुप्रास और उपमादि शब्दार्थ अलङ्कारों का तो रामायण में इतना प्राचुर्य है, कि उनके उदाहरण उधृत करना तो केवल विस्तार मात्र है। रामायण की वर्णन-शैली को उच्चश्रेणी की बतलाना एक उसकी विडम्बना है। उसमें जो उपमा, उत्प्रेक्षादि की कल्पनाएँ हैं वे बड़ी ही सारगर्भित और अभूतपूर्व होने पर भी बड़ी सरलता से कही गई हैं। इस बात को पाश्चात्य विद्वान भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं—

"*Valmiki is rich in the cumulating of Similes*"

ऐसा कोई सस्कृत का सुप्रसिद्ध महाकवि न होगा जिसने उनके वर्णन का अनुकरण न किया हो, पर इस कार्य में सफलता सबको प्राप्त न हो सकी। एक उदाहरण देखिये, रामायण में श्रीमती जनकनन्दिनी के अन्वेषण में विलम्ब करते हुए देख कर वानरराज सुग्रीव के प्रति लक्ष्मणजी ने कहा है—

'न स सङ्कुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः' ॥

—किष्कन्धा ३४।१८

इसका अनुकरण जानकीहरण के प्रणेता कुमारदास कवि ने इस प्रकार किया है—

'मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यतां।
जगज्जिवत्सातुरकण्ठपद्धतिर्नवालिनैवाहततृप्तिमन्तकः' ॥

—जानकीहरण १२-३६

कहने की आवश्यकता नहीं कि जो चमत्कार महर्षिवर्य के अनुष्टुप् पद्य की साधारण उक्ति में है, वह क्लिष्ट-कल्पना और लम्बी-रचना द्वारा भी जानकीहरण का प्रणेता अपने पद्य में न ला सका। इस कार्य में कविकुलशेखर कालिदास ही सफल हो सके हैं, उनके काव्य प्रायः वाल्मीकीय रामायण पर ही अवलम्बित हैं। विशेषतया मेघदूत की कल्पना तो एक मात्र रामायण में वर्णित श्री हनुमानजी का दूतरूप में श्री जनकनन्दिनी के समीप जाने के प्रसङ्ग पर ही निर्भर है*। कहने का तात्पर्य यह है कि रामायण केवल कहने मात्र को ही आदि-काव्य नहीं, किन्तु परवर्ती महाकवियों को पथ-प्रदर्शक होने के कारण यथार्थ में आदि-काव्य है। अतएव धनञ्जय ने दश-रूपक में नाटक के लेखकों को नाटक की रचना के प्रथम श्री रामायण के अध्ययन करने के लिये परामर्श दिया है—

'इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या—
च्चित्रां कथामुचित चारुवचः प्रपंचैः'।

—दशरूपक १।६८

---

* इस विषय में लेखक ने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श में विस्तृत उल्लेख किया है।

वाल्मीकीय रामायण का समय

रामायण के रचना-काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी विलक्षण विलक्षण कल्पनाएँ की हैं। उनके मत विभिन्न होते हुए भी इस विषय मे वे सभी प्रायः एकमत हैं कि वाल्मीकीय रामायण का रचना-काल ईसवी सन् के पूर्व लगभग छठी शताब्दी से अधिक पहले का नहीं है। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् लेखकों ने रामायण के बाह्य और अन्तः प्रमाणो के आधारों पर जो आनुमानिक कल्पनाओं का भवन निर्माण किया है वह दृढ मूल नहीं—पूर्वापर विवेचनाओं की कसौटी पर कसने पर वे कल्पनाएँ सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाती हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी इस विषय पर उल्लेख किये हैं, पर खेद है कि वे एतद्देशीय विद्वान् भी पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण उनके विचारों मे भी पाश्चात्य दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। अस्तु

रामायण के रचना-काल के विषय में कुछ विद्वानों के स्थूल मत इस प्रकार हैं—

(१) प्रोफेसर वेबर (Weber) महाभारत और ग्रीस देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचना-काल मानते हैं।[१]

(२) डाक्टर भण्डारकर व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि के बाद रामायण का रचना-काल मानते हैं।[२]

---

१ देखिये Weber History of Indian Literature

२ देखिये Rama and Homer

(३) मि० कीथ रामायण का रचना-काल ई० सन् के पूर्व चतुर्थ शताब्दी बतलाते हैं।[1]

(४) मि० जेकोवी ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी में रामायण का रचना स्वीकार करते हैं।[2]

(५) रायबहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य रामायण के दो रूप मानते हैं। एक तो महर्षि वाल्मीकि-कृत मूल या प्राचीन रामायण, उसका समय श्री वैद्य, 'भारत' के बाद और 'महाभारत' के पूर्व और प्रचलित वर्त्तमान वाल्मीकीय रामायण को वे 'भारत' और 'महाभारत' दोनों के बाद ई० सन् के लगभग दो शताब्दी पूर्व का मानते हैं। श्री वैद्य, महाभारत के भी दो रूप मानते हैं एक भगवान् वेदव्यासकृत 'भारत' और दूसरा नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को श्रवण करानेवाले सौति द्वारा परिवर्द्धितरूप अर्थात् वर्त्तमान "महाभारत"।

अच्छा अब यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त विद्वान लेखकों ने अपनी-अपनी कल्पनाएँ किन-किन आधारों पर की हैं और उन आधारों में कहाँ तक सत्यान्वेषण है।

---

१ देखिये जनरल रोयल एसियाटिक सोसाइटी सन् १९१५ पृ० ३२०

२ देखिये श्री P. V काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका

(१) प्रोफेसर वेबर का कहना है कि ग्रीक देश के कवि होमर के इलियड के कथानक के आधार पर रामायण की रचना की गई है और रामायण में वर्णित पात्र—श्री राम सीता आदि काल्पनिक हैं अतएव रामायण का रचना-काल महाभारत के बाद का है। प्रो० वेबर के इस मत का खण्डन श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भली प्रकार कर दिया है १। एवं श्री कासीनाथ त्र्यम्बक तैलिङ्ग ने अपने 'Rama and Homer' नाम के ग्रन्थ में 'Was the Ramayan copied from Homer' शीर्षक लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत रामायण के आधार पर होमर ने ही इलियड की रचना की है। अतएव इसके विषय में अधिक उल्लेख अनावश्यक है।

(२) डाक्टर भण्डारकर के मत का भी श्री वैद्य ने दृढ युक्तियों द्वारा खण्डन कर दिया है २। इसके सिवा डा० भण्डारकर के

---

१ देखो श्री वैद्य का "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०३-१०४ और देखो मेकडोनल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास का श्री मोहनलाल पार्वतीशंकर M. A L. L. B. कृत गुजराती अनुवाद की पाद-टिप्पणी पृ० ३८६

२ देखो श्री वैद्य का 'संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०६

विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि श्री पाणिनि ने 'कौसल्या' और 'कैकेई' इन दोनों के विषय में अष्टाध्यायी के दो सूत्र में स्पष्टता की है। इसके अतिरिक्त 'राम' का पृथु और वेन आदि प्रसिद्ध राजाओं के साथ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है 'प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्ररामे बोचमसुरे माधवासु।' (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९३।) अतएव डा० भण्डारकर का मत भी निराधार है।

(३) मि० कीथ रामायण-काल ई० पूर्व चौथी शताब्दी और मि० जेकोवी ई० के पूर्व छठी शताब्दी बतलाते हैं अतः मि० कीथ के मत की आलोचना मि० जेकोवी के मत के अन्तर्गत नीचे की जाती है।

(४) मि० जेकोवी का कहना है कि महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण के ५ काण्ड अयोध्या से युद्धकाण्ड तक ही हैं, शेष दोनों काण्ड—बाल और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं। इस कल्पना की पुष्टि में आपका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम सर्ग और तीसरे सर्ग में रामायण के वर्णनों का जो संक्षिप्त विवरण है वह परस्पर विरुद्ध है। और युद्धकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के लक्षण वर्त्तमान हैं। अब देखिये, यह कल्पनाएँ कैसे निर्मूल आधारों पर की गई हैं। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में नारदजी द्वारा महर्षि वाल्मीकि को श्री राम-चरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। उसके बाद दूसरे सर्ग में

ब्रह्माजी ने वाल्मीकिजी के समीप आकर श्री नारद द्वारा श्रवण किये हुये श्री रामचरित्र को वर्णन करने के लिये महर्षि वाल्मीकि को आदेश दिया है। और ब्रह्माजी ने महर्षि को यह वरदान भी दिया है कि "श्री राम और जनकनन्दिनी आदि का जो चरित्र प्रकाश में है अथवा ऐसा गुप्त है, जो किसी ने देखा या सुना नहीं है, सभी आपको विदित हो जायगा," इत्यादि। इसके बाद तीसरे सर्ग में समाधिस्थ महर्षि वाल्मीकि को समस्त श्री रामचरित्र का यथावत् ज्ञान हो जाने पर श्री वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामचरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। हम नहीं समझते कि ऐसी परिस्थिति में प्रथम सर्ग के वर्णन के साथ तृतीय सर्ग के वर्णन में क्या विरुद्धता है। जब कि उन दोनों वर्णनों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है। और युद्धकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के जो लक्षण मिलते हैं उसके द्वारा भी मि० जेकोबी की कल्पना की कुछ भी पुष्टि नहीं हो सकती है। बात यह है कि महर्षि वाल्मीकिजी ने लवकुश को श्री रामचन्द्रजी के राज्यारोहण तक ही रामायण का अध्ययन कराया था और वहीं तक लवकुश ने राज-सभा में रामायण का गान किया था ऐसी स्थिति मे युद्धकाण्ड के अन्त में फलस्तुति का होना आवश्यक ही था। उत्तरकाण्ड में तो राज्यारोहण के बाद का इतिहास और प्रसङ्गानुसार रामचरित्र विषयक और भी अनेक इतिहास हैं और वह ऐसे हैं कि उनको महर्षि वाल्मीकि से

अन्य किसी द्वारा लिखा जाना असम्भव है।

(५) राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यद्यपि पाश्चात्य लेखकों का प्रायः अन्धानुसरण नहीं किया है। फिर भी वाल्मीकीय रामायण के विषय में श्री वैद्य भी अधिकांश में प्रोफेसर वेबर आदि पाश्चात्यों के लेखों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। ऊपर कह चुके हैं कि श्री वैद्य महाभारत के दो रूप मानते हैं एक भारत दूसरा महाभारत। उनका कहना है कि भगवान् वेदव्यास कृत भारत का रचना-काल ई० सन् के ३१०० वर्ष पूर्व का है और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत का रचनाकाल ई० सन् के पूर्व लगभग दो शताब्दी का। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के भी श्री वैद्य दो रूप मानते हुए प्राचीन रामायण का समय वे लगभग ई० सन् के पूर्व पांचवीं शताब्दी मानते हैं[१]। और एक स्थल पर आप ई० सन् के पूर्व २१०० वर्ष भी मानते हैं[२]। अर्थात् जिस भारत ग्रन्थ को वे श्री वेदव्यास कृत प्राचीन बताते हैं, उसके बाद और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत ग्रन्थ के पूर्व। अच्छा, प्रथम हम इसी वा० रामायण पर विचार करते हैं, जिसे वे प्राचीन मानते हैं। इस विषय में एक ऐसा अकाट्य आन्तर्य प्रमाण उप-

१ देखिये, श्री वैद्य का सस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०६

२ देखिये, श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०४

लब्ध है, जिसके विरुद्ध कुछ कहने का संभवतः कोई भी विद्वान् दुःसाहस नहीं कर सकता है। श्री वाल्मीकीय रामायण के युद्ध काण्ड के ८१ वें सर्ग की २८ वीं संख्या का [1] यह श्लोक है—

"न हन्तव्या स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम,
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत्।"

यह श्लोक महाभारत ग्रन्थ के द्रोण पर्व में अध्याय १४३ की ६७।६८ संख्या में इस प्रकार मिलता है—

"अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि,
न हन्तव्या स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा,
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेवतत्॥"

इसमें रेखाङ्कित शब्द श्री वाल्मीकीय रामायण के प्रायः अविकल हैं। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारत या महाभारत का समय वाल्मीकीय रामायण के पूर्व किसी प्रकार सिद्ध नही हो सकता। रामायण के इस उद्धरण को सौति द्वारा मिलाया जाना भी कदापि नही

१ देखो गोविन्दराजीय 'भूषण' 'रामायण तिलक' और 'रामायण शिरोमणि' तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रिंटिंग प्रेस (बंबई) में मुद्रित संस्करण।

कहा जा सकता। मि० मेकडोनल ने भी स्पष्ट कहा है कि इस श्लोक को सौति द्वारा रामायण से लेकर भारत ग्रन्थ में बढाया नही गया है [१]। इसके सिवा श्री वैद्य भी प्रकारान्तर से यह बात स्वीकार करते हैं। श्रीवैद्य ने कहा है—

"वाल्मीकि हा वैदिक ऋषि असलामूलें मूल रामायण हां ग्रन्थ वेदकालीन आहे व तो 'जय' (महाभारताचें मूलचें रूप) ग्रन्था पूर्वीं'चा आहे।"[२]

अर्थात् श्री वैद्य कहते हैं कि वाल्मीकि वैदिक ऋषि हैं और उनकी रामायण वेदकालीन है, वह वेदव्यासजी कृत जय (भारत) ग्रन्थ से पूर्व की है। 'किमाश्चर्यमतः परम्'—एक ही ग्रन्थ में एक स्थान पर श्री वैद्य श्री वेदव्यास कृत जिस 'जय' (भारत) का समय ई० सन् के पूर्व ३१०० वर्ष स्वीकार करते हैं, उस 'जय' ग्रन्थ के पूर्व रामायण को बताते हैं और फिर आप उसी 'भारत' ग्रन्थ के बाद रामायण को—उस रामायण को जिसको वे महर्षि वाल्मीकि कृत आदि रामायण मानते हैं—बता रहे हैं।

अतएव स्पष्ट है कि श्री वैद्य के इस मत में पूर्वापर विरोध होने के कारण सर्वथा अग्राह्य है। अब यह देखना आवश्यक है कि

---

१ देखो मि० मेकडोनल कृत संस्कृत साहित्य का श्री मोहन लाल पार्वती शङ्कर दुबे M A LL B कृत गुजराती अनुवाद पृ० ३८७

२ देखिये श्री वैद्य का सस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० ६५

श्री वैद्य जिस वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय वाल्मीकि कृत रामायण से परिवर्द्धित मानते हैं, ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व—भारत और महाभारत के बाद—वह किन किन आधारों पर बताते है। श्री वैद्य का कहना है—

(१) "महाभारत में केवल बौद्ध मत का उल्लेख है. पर वर्तमान रामायण में बौद्ध मत के विरुद्ध वाक्य मिलते हैं। यही नहीं विशेष रूप से बुद्ध के नाम का भी उल्लेख है। अतः अशोक के बाद इस धर्म के अस्त होने के समय आर्य-धर्मावलम्बी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के काल में वर्तमान रामायण की रचना सिद्ध होती है।"

श्री वैद्य की इस कल्पना का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि महाभारत में प्रयुक्त 'बौद्ध' शब्द का अर्थ बुद्ध द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय के अतिरिक्त क्या हो सकता है? फिर बुद्ध और बौद्ध शब्दों के प्रयोग में क्या भेद है जिस के आधार पर ऐसी कल्पना की जाय? मि० मेकडोनल का कहना है कि "बुद्ध या बौद्धों के विषय में रामायण में एक ही स्थान पर उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है"[१] सभव है ऐसा ही हो अतएव ऐसे निर्बल आधार पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है?

---

१ देखिये मि० मेकडोनल का संस्कृत साहित्य का इतिहास रामायण प्रकरण।

(२) दूसरी कल्पना यह है—"महाभारत में राशि-गणित का उल्लेख नहीं है। किन्तु रामायण में श्रीराम-जन्म के समय कर्क लग्न पर पांच ग्रहों की स्थिति वर्णित है। राशि-गणित का ज्ञान भारतवर्ष में यवनों द्वारा प्राप्त हुआ है और यवनों का भारतवर्ष में आगमन ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व हुआ है।"

यह कल्पना भी निर्मूल है। डा० रावर्टसन आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि राशि-ज्ञान सबसे प्रथम भारतवर्ष को ही हुआ है। और उसे भारतवर्ष से ही अन्यदेशीय विद्वानों ने सीखा है। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् मि० वेली का मत है कि ज्योतिष का भारतवर्ष में उत्तम रूप से प्रचार ई० सन् के ३००० वर्ष पूर्व हो गया था।[१] इसके सिवा श्री शङ्कर बालकृष्ण भी राशि-गणित का प्रचार भारतवर्ष में स्वतंत्रता से मानते हैं। इसके सिवा यवनों के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध कब हुआ इसको तो श्री वैद्य स्वयं अनिश्चित स्वीकार करते हैं,[२] तब इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है।

(३) तीसरी कल्पना यह है कि "रामायण के अयोध्या काण्ड में १०० वें सर्ग में जो राज-धर्म का विषय है, वह महाभारत सभापर्व के पञ्चम अध्याय से लिया गया है। क्योंकि भगवान् रामचन्द्र द्वारा भरतजी से जो प्रश्न पूछे गये हैं, वे असामयिक हैं।"

१ देखिये माधुरी पत्रिका अप्रेल सन् १९३१ पृ० ३१२।

२ देखिये श्री वैद्य की महाभारत मीमांसा हिन्दी पृ० ७८।

किन्तु इस प्रसङ्ग को दोनों ग्रन्थों में देखने पर ज्ञात हो सकता है कि यह आदर्श-राज्य का दिग्दर्शन है। रामायण में भगवान् रामचन्द्र चित्रकूट में आए हुए भरत से उनकी उद्विग्नता का कारण पूछने के लिये राज्य-विषयक परिस्थिति के रूप में प्रश्न करते हैं। और महाभारत में महाराजा युधिष्ठिर से राज्य-व्यवस्थात्मक प्रश्नों के रूप में देवर्षि नारद आदर्श-राज्य-धर्मों का उपदेश करते हैं। दोनों ही स्थलों पर यह विषय प्रसङ्गानुकूल है। हाँ, इस प्रसङ्ग मे वाल्मीकीय रामायण के कुछ पद्यों का महाभारत के पद्यों में अविकल सादृश्य अवश्य है। यह साम्य स्वतन्त्र रूप से होना असम्भव न होने पर भी यदि यही कल्पना की जाय कि वे पद्य एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ में लिये गये हैं तो भी प्रत्युत रामायण से महाभारत में लिया जाना ही सम्भव हो सकता है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है कि महाभारत में वाल्मीकि के नाम के साथ रामायण का पद्य उद्धृत किया गया है। फिर किस प्रकार श्री वैद्य की यह कल्पना स्वीकार की जा सकती है ?

(४) चौथी कल्पना यह है कि "महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत आदि या मूल रामायण में ब्रह्मास्त्र द्वारा रावण के बध का उल्लेख है। किन्तु वर्त्तमान रामायण मे रावण के एक सिर कट जाने के वाद तत्काल नवीन दूसरे सिर उत्पन्न होने तथा रावण के कण्ठस्थित अमृत-कुण्ड को फोड़ कर रावण-बध की कथा है।"[१]

---

१ श्री वैद्य का सस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक पृ० १०५।

प्रश्न होता है कि वाल्मीकि-कृत वह दूसरी कौन सी ऐसी वाल्मीकीय रामायण है जिसमें रावण के कण्ठस्थित अमृतकुण्ड को फोड कर रावण-बध की कथा है ? वर्तमान् वा० रामायण में तो ऐसा उल्लेख रावण-वध के प्रसङ्ग में नहीं मिलता । महाभारत के रामोपाख्यान में भी रावण का बध केवल ब्रह्मास्त्र द्वारा किया जाना ही वर्णित है । सम्भवतः इसी आधार पर श्री वैद्य की यह कल्पना भी निर्भर है । प्रथम तो विभिन्न पुराणेतिहासों में अवतार- चरित्रों का एक ही रूप से वर्णन नहीं देखा जाता है । इस विभिन्नता का कारण एकमात्र कल्प भेद है जैसा कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजी द्वारा 'रामचरित मानस' में विभिन्न कल्पों में होनेवाले श्री रामावतार के विषय में दिग्दर्शन कराया गया है । फलतः श्री वाल्मीकीय रामायण से ही महाभारत में रामोपाख्यान लिया गया है यह भी सन्देहात्मक ही है । इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि महाभारत में यह विषय रामायण से ही लिया गया है तो भी श्री वैद्य के मत की पुष्टि नहीं हो सकती । वर्त्तमान रामायण में भी ब्रह्मास्त्र द्वारा ही रावण-बध का वर्णन है—

"अथ तं स्मारयामास मातली राघवं तदा,
अजानन्निव किं वीर त्वमेनमनुवर्तसे ।
विसृज्यास्मै वधाय त्वमस्त्रं पैतामहं प्रभो ।
× × × × × × ×
ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः,
जग्राह स शरं दीप्तं निश्वसन्तमिवोरगम् ।

यं तस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः।
ब्रह्मदत्तं महद्बाणममोघं युधि वीर्यवान्॥" इत्यादि
—युद्धकाण्ड सर्ग १०८। १, २, ३, ४ ※।

अब रही, रावण के सिर कट कर फिर उत्पन्न होने की बात इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि जब स्वयं श्री वैद्य महाभारत के रामोपाख्यान को संक्षिप्त रूप मानते हैं तो ऐसी स्थिति में यदि किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन का तदनुरूप शृङ्खलाबद्ध ही वर्णन किया जाय तो फिर संक्षिप्त का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? इसके द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य की यह कल्पना भी सर्वथा निस्सार है।

(५) श्री वैद्य की एक कल्पना यह भी है कि वर्त्तमान रामायण में छन्दों का प्रयोग है वह महाभारत काल के बाद का है। किन्तु छन्दों के प्रयोगों के विषय में भी श्री वैद्य स्वयं विश्वास नही करते हैं [१]। अतएव इस विषय में भी अधिक कहना व्यर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य महाशय की कल्पनाएँ कुछ भी महत्वपूर्ण नही हैं। पाश्चात्य और एतद्देशीय लेखकों ने और भी कुछ निस्सार कल्पनाएँ की हैं पर विस्तार भय से यहाँ उनकी मुख्य कल्पनाओं के विषय में ही विवेचन किया गया है।

※ देखो भूषण आदि तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रेस (बंबई) संस्करण।

१ देखो श्री वैद्य कृत भारत मीमांसा।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि जब ईसवी सन् के सम्भवतः छठी और सातवीं शताब्दी लगभग के भट्टि-भामह, भामह-दण्डी और ग्यारहवीं शताब्दी के मम्मट-रुय्यक आदि साहित्याचार्यों के विषय में भी विद्वानों द्वारा अधिकाधिक चेष्टा की जाने पर भी उनके पूर्वापर का निश्चित रूप में मतैक्य नहीं हो सकता है, ऐसी अवस्था में निराधार कल्पनाओं पर रामायण को महाभारत के परवर्ती मान लेना या ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों के पूर्व इसका समय निश्चित कर देना निस्सन्देह बड़ा दुस्साहसपूर्ण कार्य है, जब कि रामायण के प्राचीनतम होने के विरुद्ध कोई भी दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता है। हाँ, सम्भव है आर्ष-ग्रन्थों में कुछ प्रक्षिप्त अश पीछे से मिला दिया गया हो पर इसके द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का काल-निर्णय करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, यह इतिहासज्ञ विद्वान् अनुभव कर सकते हैं।

महामुनि श्री भरत का नाट्यशास्त्र

साहित्य-शास्त्र के प्रथमाचार्य का स्थान उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर महामुनि भरत के सिवा अन्य किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता। क्योंकि काव्य के लक्षण-ग्रन्थों में सबसे प्रथम हमको इन्हीं का नाट्यशास्त्र उपलब्ध होता है। यद्यपि काव्य-मीमांसा मे कविराज राजशेखर ने शास्त्रसंग्रह नामक प्रथमाध्याय के आरम्भ मे

भगवान् श्री कण्ठ द्वारा काव्य-शिक्षा प्राप्त होने का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ भरत मुनि के साथ-साथ अन्य साहित्याचार्यों के भी नामोल्लेख किये हैं, जैसे—

"सोऽपि भगवान् स्वयंभू·········काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः स प्रपञ्चं प्रोवाच। तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, मौक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानिचित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेष मुतत्थ्यः, उभयालङ्कारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदकं कुचमारः इति"।

—का० मी० पृ० १

उपर्युक्त आचार्यों में जिन सुवर्णनाभ और कुचमार का उल्लेख है, उनके विषय में वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र में भी उल्लेख है * जो कि राजशेखर से अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। और नन्दिकेश्वर (अथवा नन्दि) का उल्लेख नाट्यशास्त्र में स्वयं श्री भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र विषय के अपने उपदेशक के रूप में तुण्ड के नाम से

* 'सुवर्णनाभः साम्प्रयोगिकम्' कामसूत्र १।१।१३।, 'कुचमार औपनिषदिकम्'। कामसूत्र १।१।१७,

किया है—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु राजशेखर के बताये हुए आचार्यों में इस समय श्री भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है।

बाबू सुशीलकुमार दे एम० ए० डी-लिट०, (ढाका युनिवर्सिटी) आदि ने राजशेखर के उपर्युक्त वाक्य को कवि-कल्पना मात्र एवं अपने अधिकृत शास्त्र को गौरवान्वित करने के लिये उसके साथ इस प्रकार देवता और ऋषियों का सम्बन्ध स्थापित कर देना संस्कृत लेखकों के लिये स्वभाव-सिद्ध बतलाया है[†]। किन्तु हम तो यह कहते हैं कि संस्कृत लेखकों द्वारा ऐसा किये जाने की बात तो केवल पश्चिमीय शिक्षा से प्रभावित विद्वानों की कपोल-कल्पना मात्र ही है। पर हमारे ऋषियों के सम्बन्ध के ऐसे वाक्यों पर ऐसी निराधार कल्पनाएँ कर लेना पाश्चात्य-लेखकों पर अन्ध-विश्वास रखनेवाले एतद्देशीय विद्वान् लेखकों के अवश्य ही प्रत्यक्ष स्वभाव-सुलभ दृष्टिगत होती है। अतएव ऐसी अवस्था में ऐसी अप्रमाणिक मनगढन्त कल्पनाओं को हम भी अंध-विश्वास से किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं, जब कि उनकी कल्पनाओं के विरुद्ध हमको प्रमाण भी उपलब्ध हैं। विचारणीय यह है कि राजशेखर ने जिन-जिन आचार्यों का नामोल्लेख किया है, उनमें से भरत का नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है, पर इसके सिवा और भी दो आचार्यों का नामोल्लेख राजशेखर के अत्यंत पूर्ववर्ती वात्स्यायन के कामसूत्र में बड़े आदर के साथ किया गया है—जैसा कि हम पहिले दिखा चुके हैं। और कामसूत्र के

[†] संस्कृत पोईटिक्स S. K. De. Vol. 1

उल्लेख द्वारा उन दोनों का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाता है— जब कि उनके ग्रन्थ भी कोई उपलब्ध नहीं हैं। फिर हमको राजशेखर-कथित अन्य आचार्यों का अस्तित्व असम्भव मान लेने का क्या आधार है ? यदि उनके ग्रन्थ अप्राप्य होना ही इसका आधार मान लिया जाय तब तो यह भी सम्भव है कि यदि श्री भरत का नाट्यशास्त्र और कामसूत्र भी अप्राप्य होते तो भरत, सुवर्णनाभ और कुचमार को भी वे काल्पनिक व्यक्ति ही समझ लेते। अतएव किसी निर्दिष्ट आचार्य का ग्रन्थ या किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का चिन्ह उपलब्ध न होना उनके अस्तित्व को असिद्ध कदापि नहीं कर सकता। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तब तो इसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर हो सकता है—सभी ऐतिहासिक व्यक्ति काल्पनिक समझे जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि राजशेखर के वाक्य को कपोल-कल्पित मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत स्वय नाट्यशास्त्र में राजशेखर के वाक्य की पुष्टि में प्रमाण मिलते हैं। नाट्यशास्त्र में 'अन्ये' (अ० ९।१३० के आगे) 'अन्यैरपि उक्तम्' (९।१४४ के आगे), 'अन्येतु' (९।१६१, और ९।१६६ के आगे) इत्यादि अनेक प्रयोग मिलते हैं, जो कि हमको भरत के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के परिचायक हैं। सभव है जिस प्रकार राजशेखर ने श्री भरत, सुवर्णनाभ और कुचमार के ग्रन्थ देख कर उनका नामोल्लेख किया होगा उसी प्रकार अन्य आचार्यों के भी ग्रन्थ या अन्य किसी ग्रन्थ में उनका नामोल्लेख देख कर ही ऐसा किया होगा। अस्तु ऐसी परिस्थिति में जब कि

अन्य आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, महामुनि भरत ही साहित्य के प्रथमाचार्य के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं और उनका नाट्य-शास्त्र ही इस विषय का प्रथम ग्रन्थ।

नाट्य शास्त्र में वर्णित विषय

नाट्यशास्त्र का विषय प्रधानतया दृश्य-काव्य नाट्य विषय है। पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दोनों ही भेदों के इसमें नियम निरूपण किये गये हैं। हां, यह अवश्य है कि श्रव्य-काव्य अथवा श्रव्य और दृश्य दोनों से सम्बध रखनेवाले रस, अलङ्कार, गुण, वृत्ति, नायिका-भेद और दोषादिकों का उतना विस्तार से विवेचन नहीं किया गया है, जितना केवल दृश्य-काव्य विषयक नाट्याभिनय का वर्णन किया गया है।

नाट्यशास्त्र में ३७ अध्याय हैं। जिनमें छठी अध्याय में रस; ७ वीं में भाव—स्थायी, व्यभिचारी आदि; १४ वीं में छंदों के लक्षण और उदाहरण; १६ वीं में अलङ्कार, काव्य के दोष गुण और काव्य-लक्षण; १७ वीं में प्राकृतादि भाषाएँ; १८ वीं में दश प्रकार के रूपक; २० वीं में भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी वृत्ति और २२ वीं में हाव, भाव, हेला, नायक-नायिकादि भेद निरूपण हैं। विशेषतया श्रव्य-काव्य से सम्बध रखनेवाली यही अध्याय है, शेष अध्यायों में प्रायः नाट्याभिनय विषय ही है।

नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त अध्यायों के विषय निरूपण पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के रचना-काल में अलङ्कारों के अधिक भेद निर्दिष्ट नहीं हुए थे—जैसा कि उसमें किये गये उपमादि केवल चार अलङ्कारों के निरूपण से स्पष्ट है। अलङ्कारों के उपभेद भी उसमें केवल उपमा और यमक के ही कुछ निरूपण किये गये हैं। उपमा के अवान्तर भेदों के विषय में यह भी कहा गया है—

'उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेया समासतः।
ये शेषा लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्या काव्यलोकतः'॥

—नाट्यशास्त्र १६।५४

इससे विदित होता है कि उपमा के उपभेद उस समय और भी कुछ महामुनि भरत के ध्यान में अवश्य थे, सम्भवतः वे काव्यों में ही दृष्टिगत होते थे—किसी लक्षण ग्रन्थ में निरूपण नहीं किये गये थे। जिनमे बहुत से उपभेदों का निरूपण अग्निपुराण और दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है।

अलङ्कारों के वाद नाट्यशास्त्र में दश दोषों और गुणों का निरूपण है।

नाट्यशास्त्र का लेखक

नाट्यशास्त्र के लेखक के विषय मे बाबू S K डे लेक्चरर ढाका

यूनिवर्सिटी[1] और श्री काणे का मत है[2] कि यह विस्तृत नाट्यशास्त्र श्री भरत की कृति नहीं किंतु किसी अन्य की है जिसने सिद्धांतों की शिक्षा पाकर एवं कला के प्रयोग करके इसको प्रणीत किया है। इसकी पुष्टि में श्री काणे ने नाट्यशास्त्र के—

'आत्मोपदेशसिद्धं हि नाट्यं प्रोक्तं स्वयंभुवा।
शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोलाहलःकथिष्यति'॥

—३७।१८

'भरतानां च वंशोयं भविष्यं च प्रवर्तितः।
कोहलादिभिरेवं तु वत्सशाण्डिल्यधूर्तितैः'॥

—३७।२८

इन वाक्यों को उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त वे अन्य प्रमाण भी देते हैं—

१ दामोदर गुप्त ने कुट्टनी मत में नाट्यशास्त्रकारों में भरत के साथ कोहल का नाम भी दिया है—'कोहलभरतोदितक्रियया' (कुट्टनीमत श्लो० ८१)।

२ 'ताल' नामक ग्रन्थ जो कोहलाचार्य कृत कहा जाता है यह इण्डिया ओफिस की लायब्रेरी में है।

३ हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में ('आदि शब्दात्कोलाहलादिलक्षिता-

---

१ देखो हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स जिल्द एक नाट्यशास्त्र विषयक निबन्ध।

२ देखो श्री काणे के साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ७,८।

स्तोटकादयो प्राद्याः ।' पृ० ३२५) इस वाक्य में कोलाहल को नाट्य-लेखक बतलाया है ।

४ रसार्णवसुधाकर (प्रथम बिलास) में शिङ्ग भूपालने भरत, शाण्डिल्य, कौटिल्य, दत्तिल और मतङ्ग को दूसरे नाट्य-ग्रन्थों के प्रणेता बतलाये हैं ।

बस, श्री काणे की कल्पना इन्हीं प्रमाणों पर अधिकतया अवलम्बित है । किंतु उपर्युक्त प्रमाणों में किसी भी प्रमाण से यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि यह वर्तमान नाट्यशास्त्र भरत मुनि प्रणीत नहीं ? प्रत्युत उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा तो ऊपर उधृत नाट्य-शास्त्र की दोनों कारिकाओं में जो कहा गया है कि 'नाट्यशास्त्र का विस्तार कोहलादि करेंगे' इसकी पुष्टि होती है । क्योंकि उपर्युक्त पहिली, दूसरी और तीसरी सख्या के प्रमाणों में यही कहा गया है कि कोहलादिक नाट्य-विषयक ग्रन्थों के प्रणेता हैं । और दूसरी संख्या के प्रमाण द्वारा कोहलकृत 'ताल' नामक ग्रन्थ का पता चलता है । अतएव इनके द्वारा तो केवल यही निष्कर्ष निकल सकता है कि १, ३, ४ संख्या के प्रमाणों में कहे हुए वाक्यों का दूसरी सख्या के प्रमाण द्वारा समर्थन होता है । किन्तु यह चारों प्रमाण श्री काणे ने भरत के नाव्यशास्त्र के लेखक के सम्बन्ध में किस प्रकार लागू किये यह एक वस्तुतः विचित्र बात है ।

बाबू S K दे ने भी[१] नाट्यशास्त्र के ३७ वें अन्तिम अध्याय के अन्त में—'इति भारतीये नाट्यशास्त्रे गुरु विकथ्यो नामाध्यायः

१ देखो हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स पृ० २४, २५ ।

सप्तत्रिशः' इस वाक्य के आगे लिखे हुए—'समाप्तोय नन्दिभरत सगीत पुस्तकम्'। और ऊपर उधृत नाट्यशास्त्र के अध्याय ३७ की १८ वी एव २८ वीं कारिकाओं के आधार पर यही मत स्थिर किया है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप कोहल नन्दिकेश्वर आदि के किये हुए परिवर्तनों के पीछे किसी अन्य द्वारा सम्पादित किया गया है। फिर S. K. दे बाबू यह भी लिखते हैं कि[१] "नाट्यशास्त्र में—(१) मुक्त गद्यांश, (२) आनुवश्य श्लोक, (३) सूत्र भाष्य शैली और (४) सक्रम कारिकाएँ हैं अतः यह विभिन्न शैली की रचना एक काल की नहीं हो सकती। यह ग्रन्थ कभी सूत्र भाष्य रूप में लिखा गया होगा जिसका रूपान्तर वर्तमान रूप है"। किन्तु हमको आश्चर्य है कि श्री काणे और श्री S K दे बाबू जैसे सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने यह मत ऐसे निर्बल और निर्मूल आधारों पर किस प्रकार स्थिर कर लिया। उनको इस मत पर आने के प्रथम आर्ष-ग्रन्थ, जो ऋषि-प्रणीत महाभारतादिक हैं, उनके आरम्भ से समाप्ति तक की क्या रचना-शैली है उस पर भी ध्यान देना आवश्यक था। क्या उन ग्रन्थों में इसी प्रकार की रचना-शैली नहीं है ? क्या गद्य भाग और अनुष्टुप या आर्या छन्द आदि नहीं हैं ?। अवश्य ही इन आर्ष-ग्रन्थों के मूल भाग को श्री काणे आदि भी उन्हीं महानुभाव ऋषियों के प्रणीत स्वीकार करते हैं, यद्यपि उनके वर्त्तमान रूप को वे कहीं कहीं परिवर्द्धित बताते हैं। किन्तु यह भी उनकी निराधार कल्पना मात्र है। (इस विषय पर प्रसङ्गानुसार

१ हिस्ट्री स० पो० पृ० ३१।

आगे विवेचन किया जायगा) यहां पर विचारणीय यही है कि जब कोहलादिक का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र मे भी है और उसी के आधार पर श्री काणे आदि नाट्यशास्त्र के वर्त्तमान रूप को मूल रूप से भिन्न बतलाते हैं तो प्रश्न यह होता है कि प्रथम तो नाट्य-शास्त्र में इसके लेखक रूप में कोहलादि का उल्लेख ही कहां है ? 'विस्तार' का अर्थ अन्य ग्रन्थों का निर्माण उनके द्वारा किया जाना न मान कर इसी सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र को कोहलादि द्वारा लिखे जाने या परिवर्द्धित किये जाने में प्रमाण ही क्या है ?, जब कि कोहलादि द्वारा लिखे गये स्वतत्र—ग्रन्थों का अस्तित्व श्री काणे के उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध होता है। इसके सिवा भरत नाट्य-शास्त्र पर जो 'अभिनवभारती' नाम की टीका है[1] उसमें भी कोहल के मत उधृत किये गये हैं—

"सात्विकोप्यङ्गीकृत एव कोहलाद्यैः—'सत्वातिरिक्तोऽभिनयः' इत्यादिवचनमालिखद्भिः" । (पृ० १७३) । तदुक्तं कोहलेन—'सन्ध्यायां नृत्यतः' इत्यादि (पृ० १८२)। "यथोक्तं कोहलेन 'लयान्तरप्रयोगेण" इत्यादि (पृ० १८३)।

इन वाक्यों द्वारा भी कोहल का स्वतन्त्र ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र

1 अबतक इस टीका का नाममात्र अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगत होता था, पर अब यह टीका गायकवाड सीरीज़ में मुद्रित हो रही है और प्रथम भाग में ७ अध्याय तक मुद्रित भी हो गई है।

से भिन्न सिद्ध होता है। फिर यह भी एक प्रश्न है कि कोहलादि का समय किस आधार पर भरत मुनि से अत्यन्त परवर्ती कहा जा सकता है?। नाट्यशास्त्र में 'आनुवंश्य' आर्याओं के विषय में कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि यह अन्य किसी के हैं। हाँ, 'अन्ये' 'केचित्' आदि प्रयोग अवश्य हैं, यदि उन आर्याओं को भी इसी श्रेणी में रख दिये जाँय तो भी अनेक लेखकों द्वारा नाट्यशास्त्र का लिखा जाना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, सिवा इसके कि इन वाक्यों से अपने समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों के मत भरत मुनि ने प्रदर्शित किये हैं। यदि श्री काणे आदि अपने मत की पुष्टि मे कोई दृढ़ प्रमाण दिखलाते तो किसी को आग्रह न होता कि ऐसा न माने, पर जब तक कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध न हो यह कभी नहीं माना जा सकता कि श्री भरत के सिवा अन्य भी कोई इस नाट्यशास्त्र के प्रणेता या परिवर्द्धक हैं।

अच्छा, ग्रन्थ समाप्ति के 'नन्दिभरत' के प्रयोग का सम्बन्ध श्री S K. बाबू केवल नाट्यशास्त्र की अन्तिम अध्याय के साथ लगाते हैं, किन्तु अन्तिम अध्याय की 'इतिश्री' में तो वही उल्लेख है, जो कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे' लिखा हुआ है। इसके बाद 'समाप्तोयं नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्' यह लिखा हुआ है। अतएव इस वाक्य का विशेष सम्बन्ध केवल अन्तिम अध्याय अथवा नाट्यशास्त्र के अन्य किसी विशेष भाग के साथ तो किसी भी प्रकार स्थापित हो ही नही सकता। यदि इसका सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, तो सारे ग्रन्थ के साथ ही हो सकता है।

भरत मुनि को नाट्य-विषयक शिक्षा महात्मा नन्दि द्वारा ही उपलब्ध हुई है, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

'ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः।
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै॥
ततो ये तण्डुना प्रोक्ता स्त्वङ्गहारा महात्मना।
नानाकरणसंयुक्तान्व्याख्यास्यामि सरेचकान्॥

—नाट्यशास्त्र ४।१७-१८

तण्डु, यह नन्दि का ही दूसरा नाम है, जैसा कि 'तण्डु' की व्याख्या में अभिनवभारती में उल्लेख है—'तण्डुमुनिशब्दौ नन्दि-भरतयोरपरनामनी'[१]। अतएव हम इसके द्वारा इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि नन्दि द्वारा भरत मुनि को शिक्षा प्राप्त होने के कारण नाट्यशास्त्र का नन्दि के मतानुसार लिखा जाना सिद्ध होता है। सम्भव है इसी कारण से ग्रन्थान्त में 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया गया हो। इसके सिवा प्रायः अन्य नाट्याचार्यों के लिये भी भरत सञ्ज्ञा का प्रयोग होता है, सम्भव है अन्य आचार्यों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये ही प्रसिद्ध भरत मुनि के लिये जिनको नन्दि द्वारा शिक्षा प्राप्त हुई है, 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त लेख-प्रमाद और प्रक्षिप्त अंश का समावेश हो जाने के कारण इसका निश्चय किया जाना भी बड़ा ही दुःसाध्य

१ अभिनव भारती पृ० ६०

व्यापार है। अभिनवभारती के साथ नाट्यशास्त्र के गायकवाड सीरीज़ के संस्करण की भूमिका द्वारा विदित होता है कि इस संस्करण के लिये ४० प्रतियाँ हस्तलिखित एकत्र की गई हैं, जिनमें कोई भी दो प्रतियों का पाठ एक दूसरी से नहीं मिलता है। और अध्यायों की संख्या में भी विभिन्नता है। कुछ प्रतियों में ३६ अध्याय हैं, जब कि कुछ प्रतियों में उतना ही पाठ ३६ और ३७ संख्या की दो अध्यायों में लिखा हुआ है। एक प्रति में ३८ वीं अध्याय भी उसी पाठ में लगाई हुई है। इस पर सम्पादक महाशय ने लिखा है—

"Bharat's work has undergone such variations at every part of the work that every verse really requires half a printed page to show its variants" (*Natyashastra, Gaekwad's Oriental series: Preface, page, 9 last two lines*)

अर्थात् 'भरत की मूल कृति के प्रत्येक भाग में इतना परिवर्त्तन हो गया है कि प्रत्येक पद्य के परिवर्त्तनों को दिखाने के लिये वास्तव में मुद्रित आधे पृष्ठ की आवश्यकता है।' ऐसी परिस्थिति में यहां भी कहा जा सकता है कि सम्भवतः नाट्यशास्त्र में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी समावेशित हो गया हो तो क्या आश्चर्य है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ का लेखक भरत मुनि के स्थान पर अन्य किसी की कल्पना कर लेना तो वस्तुतः बड़ा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य है। अतएव संदिग्ध आधार पर ऐसी महत्वपूर्ण धारणा के लिये हमको रुक जाना ही श्रेयस्कर है।

नाट्यशास्त्र का समय ।

यद्यपि कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र का निर्माण अग्निपुराण के पीछे बताते हैं, जैसा कि काव्यप्रकाशादर्श नामक काव्यप्रकाश की टीका में महेश्वर ने लिखा है—

'सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे अवतर्यितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकरण-मलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्' ।

यह टीका ईसवी १७ वीं शताब्दी में लिखी गई है[१] । इसी प्रकार साहित्य-कौमुदी की कृष्णानन्दिनी टीका में भूषण ने भी लिखा है—

काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्धः' ।

किन्तु यह उल्लेख सर्वथा निराधार है । इसके लिये अन्यत्र अन्वेषण की आवश्यकता नहीं, जब कि अग्निपुराण के—

'वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता ।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते' ।।[२]

—अग्नि पु० ३४०।६

---

१ देखो काव्यप्रकाश भूमिका पृ० ३७ वामनाचार्य टीका द्वितीय संस्करण ।

२ अर्थात् भरत की प्रणीत होने के कारण इसे भारती रीति कहते हैं ।

इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि 'भारती' रीति का नामकरण श्री भरत-प्रणीत होने के कारण किया गया है। यही नहीं, अग्निपुराण के इस वाक्य की पुष्टि नाट्यशास्त्र के—

'या वाक् प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तुवृत्तिः' ॥
—नाट्यशा० २०।२५

इस पद्य से भी होती है। इसी के अनुसार अग्निपुराण के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है। अग्निपुराण का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें 'स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता' पाठ है, जब कि नाट्यशास्त्र में 'स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता' पाठ है। सम्भवतः अग्निपुराण में भी "स्त्रीत्यक्ता प्राकृतोम्भ्भिता" पाठ हो, और हस्त-लिखित प्रति के लिपि-भ्रम से ऐसा मुद्रित हो गया हो। जो कुछ हो, यह निर्विवाद सिद्ध है कि नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण से प्राचीन ही नहीं किन्तु वह अग्निपुराण में लिये गये इस विषय का आदर्श भी है।

इसके प्रथम कि हम नाट्यशास्त्र के समय के सम्बन्ध में यथा साध्य निष्कर्ष निकालें, यह प्रदर्शित करना प्रयोजनीय है कि अन्य विद्वान् लेखकों का इस विषय में क्या मत है—

१—प्रोफेसर मेकडोनल्ड, नाट्यशास्त्र का निर्माण काल ई० सन् की छठी शताब्दी बताते हैं। [१]

---

१ देखो संस्कृत लिटरेचर पेज ४३४। और मि० मेकडोनल का संस्कृत इतिहास गुजराती अनुवाद पृ० ५६३।

२—प्रोफेसर लेवी (Leve) इसका समय इन्डो सीदियन क्षेत्रप के समय में बतलाते हैं। [1]

३—महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री ई० सन् के दो शताब्दी पूर्व बतलाते हैं। [2]

४—बाबू S. K दे, नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप आठवीं शताब्दी के लगभग बतलाते हैं। [3]

५—श्री काणे इसकी अन्तिम सीमा महाकवि कालिदास के समय पर निर्भर बतलाते हैं। और पूर्व सीमा ई० सन् के प्रारम्भ से अधिक प्राचीन नहीं मानते। [4]

निष्कर्ष यह है कि इन सभी विद्वान् लेखकों ने नाट्यशास्त्र का निर्माण काल ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी से प्रथम स्वीकार नहीं किया है। उपर्युक्त विद्वानों के इन मतों पर विवेचन करने के प्रथम उचित यह होगा कि हम नाट्यशास्त्र के विषय में बाह्य और अन्तरङ्ग उपलब्ध प्रमाणो पर कुछ विचार करें। अतः प्रथम हम ई० सन् की ११ वीं या १२ वीं शताब्दी के पूर्व के विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के वाह्य प्रमाणों पर विचार करते हैं।

---

१ देखो इंडियन एंटीक्वायरी पुस्तक ३३ पृ० १६३।

२ देखो जरनल एसियाटिक सोसायटी बंगाल सन् १९१३ पृ० ३०७।

३ सस्कृत साहित्य का इतिहास History of Sanskrit Poetics पृ० २७।

४ देखो साहित्यदर्पण की अग्रेजी भूमिका पृ० ८-९-१०।

काव्यप्रकाश में उल्लेख है:—

'उक्त' हि भरतेन—विभावानुभावव्यभिचारीसयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।'

—का० प्र० उ० ४ पृ० १०१ [१]

यह नाट्यशास्त्र की अध्याय ६ पृ० ६२ का उद्धरण है। इस सूत्र पर काव्यप्रकाश में भट्ट लोल्लट, श्री शकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्याओं का सारांश दिया गया है और वह नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्ताचार्य की 'अभिनवभारती' नाम की टीका से संक्षिप्त रूप में लिया गया है—

१—भट्ट नायक का समय ई० सन् ९०० और ९२५ माना जाता है।

२—श्री शकुक सभवतः वही है, जिसके विषय में राजतरिङ्गिणी में—

'कविर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्' ॥
(रा० त० अ० ४।७०५)

इसके अनुसार इनका समय ई० ८४० है।

३—भट्ट लोल्लट के समय का ठीक पता नहीं, किन्तु यह श्री शकुक के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि अभिनवभारती में इनका उल्लेख उपर्युक्त भट्ट लोल्लट की नाट्यशास्त्र के सूत्र की व्याख्या के आलोचक के

१ यहां काव्यप्रकाश के जहां भी उद्धरण दिये गये हैं, वे सभी बम्बई में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित वामनाचार्य की टीका के द्वितीय सस्करण के पृष्ठ हैं।

रूप में किया गया है। और ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या में (पृ० १८८) अभिनवगुप्ताचार्य ने लिखा है कि भट्ट का मत प्रभाकर के मतानुसार है—'भाट्टं प्राभाकरं वैय्याकरणं च पक्षं सूचयति' इत्यादि। काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र प्रणीत सङ्केत टीका और व्यक्ति विवेक आदि से भी पता चलता है कि भट्ट लोल्लट, प्रभाकर और श्री शंकुक के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका समय संभवतः ई० सन् ७०० से ८०० तक माना जा सकता है।

४—अभिनवगुप्ताचार्य ने—जिनको काव्यप्रकाश प्रणेता आचार्य मम्मट संभवतः अपने आचार्य रूप में व्यक्त करते हैं, ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या में भरत मुनि के मत का अनेक स्थानों पर उल्लेख करते हुए 'मुनिराह' इत्यादि प्रयोग तो प्रायः किया ही है। एक स्थान पर लिखा है—'चिरतनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दालङ्कारत्वेनेष्टे' (पृ० ५) इनका समय दशम शताब्दी के लगभग है।

इससे सिद्ध होता है कि ईसवी की आठवीं शताब्दी के भट्ट लोल्लट ने नाट्यशास्त्र के उक्त सूत्र पर व्याख्या की है और दशम शताब्दी के अभिनवगुप्ताचार्य जैसे सम्भ्रान्त आचार्यों ने श्री भरत को 'मुनि' और 'चिरंतनैः' शब्दों से व्यक्त किये हैं, जब कि उन्होंने भामह, उद्भट और दण्डी के लिये 'चिरंतन' शब्दका प्रयोग नहीं किया है-जिनका समय अभिनवगुप्त के पूर्व दो से चार शताब्दियों तक का है।

दशरूपक के प्रणेता धनञ्जय या धनिक ने भी लिखा है—

'उधृत्योधृत्यसारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि—
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः'।

(दशरूपक १।४)

इसमें भरत को 'मुनि' और नाट्यवेद को विरिञ्चि-ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताया गया है। फिर इनके पूर्ववर्त्ती श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य, जिनका समय ई० सन् ८०० और ९०० के मध्य में माना जाता है, अपने ध्वन्यालोक में भरत का नामोल्लेख अनेक स्थानों पर किया है—

१ 'अतएव च भरते प्रबन्धप्रख्यात वस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तं'।

(पृ० १४६)

२ 'यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्'।

(पृ० १५०)

३ 'यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कौशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां'।

(पृ० १६३)

४ 'एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति'।

(पृ० १८१)

इनमें द्वितीय उद्धरण के अनुसार विलास नामक संध्यङ्ग की परिभाषा उपलब्ध नाट्यशास्त्र के १९।७१ में और तीसरे उद्धरण के अनुसार

कौशिक्यादि वृत्तियों का निरूपण अध्याय २० में किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेणीसंहार नाटक के प्रणेता भट्ट नारायण ने, जो श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य से पूर्व लगभग ई० की छठी या सातवीं शताब्दी में हो गया है, भरत के मतानुसार विलास संध्यङ्ग को लिखा है, यही नहीं वह भरत को नाट्यशास्त्र का सर्वोच्च आचार्य भी स्वीकार करता है।

ध्वन्यालोक के पूर्व दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमत ग्रन्थ में भरत का नामोल्लेख तो एकाधिक स्थानों पर किया ही है, किन्तु वह यह भी लिखता है—

'ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे गीते मुरजादिवादने चैव'।

—कुट्ट० श्लो० ७१

अतएव ई० सन् की आठवीं शताब्दी में भी नाट्यशास्त्र के उल्लेख के अनुसार नाट्यशास्त्र को ब्रह्मोक्त और भरत का ब्रह्मादि देवों के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जो भरत को प्राचीन तम सिद्ध करता है।

दामोदर गुप्त के पूर्ववर्ती भवभूति ने, जिसका समय ई० ७०० से ७४० तक माना जाता है, उत्तररामचरित नाटक के चतुर्थाङ्क में जहा कि जनक और लव के वार्तालाप में महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामा-

यण निर्माण किये जाने का प्रसङ्ग उपस्थित किया है, वहां लव के द्वारा यह वाक्य कहलाये हैं—

'लवः—प्रणीतो न तु प्रकाशितः। तस्यैव खलु कोऽप्येकदेशः सन्दर्भान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृतः तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भरतस्य मुनेस्तौर्य्यत्रिकसूत्रकारस्य'।

जनकः—किमर्थम्?

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति'।

—उत्त० पृ० २४४, २४५ (कलकत्ता, गोवर्धन प्रेस संस्करण)

इसमें महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत श्री रामायण का एक अंश नाटकरूप में अभिनेयार्थ भरत मुनि के समीप भेजे जाने का उल्लेख है। यह कथा-प्रसङ्ग यदि भवभूति द्वारा कल्पित भी मान लिया जाय फिर भी इसके द्वारा यह तो अवश्य सिद्ध होता है कि भवभूति के समय में भी भरतमुनि महर्षि वाल्मीकि के समकालीन माने जाते थे और उनका नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध था।

कादम्बरी आदि के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट ने भी—जिसका समय ई० की छठी शताब्दी माना जाता है, नाट्यशास्त्र को भरत प्रणीत माना है। हर्षचरित की दूसरी अध्याय में आरभटी वृत्ति का उल्लेख किया है—

'रैणवावर्त्तमण्डली रेचकरासरसरभसारब्धनर्त्तनाराभारभटीनटाः'। (पेरा ४)

फिर तीसरी अध्याय के पेरा ५ में—जहाँ गान विद्या का उल्लेख है, लिखा है—'भरतमार्गभजनगुरुगीत'। और नाट्यशास्त्र में आरभटी वृत्ति के विषय में लिखा है—

'अतऊर्द्ध्वं मुद्धतरसामारभटीं संप्रवक्ष्यामि'।

—ना० शा० अ० २०।५४

तथा रेचक के विषय में भी लिखा है—

'तत्राक्षिभ्रू विकाराश्च शृङ्गाराकारसूचकाः।
सग्रीवा रेचका ज्ञेयो हावश्चित्तसमुत्थितः'॥

—ना० शा० अ० २२।१०

इसके द्वारा विदित होता है कि छठी शताब्दी में बाणभट्ट ने भी नाट्यशास्त्र के मत का अनुसरण किया है। अच्छा, अब देखिये, बाण के पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास, भरत के विषय में क्या उल्लेख करते हैं—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्यभर्ता मरुता द्रष्टुमनाः स लोकपालः'॥

—विक्रमोर्वशीय २।१८

इसमें भरत को मुनि, नाट्याचार्य कहे गये हैं एवं उनके नाटक का प्रयोग अप्सराओं द्वारा किये जाने का उल्लेख है। और नाट्यशास्त्र में

नाटकीय आठ रसों का उल्लेख है, उसी के अनुसार इसमें आठ रसाश्रय ही नाटक कहा गया है। अप्सराओं द्वारा नाटक का प्रयोग किया जाने का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में है।

'प्रयोगान् कारिकाश्चैव निरुक्तानि तथैव च।
अप्सरोभिरिदं सार्धं क्रीडनीयैकहेतुकम्' ॥
—ना० शा० ३७।१९

कालिदास के काल-निर्णय में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों द्वारा अत्यन्त गवेषणा की जाने पर भी अद्यापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इनकी अन्तिम सीमा ईसा की पञ्चम शताब्दी के पश्चात् किसी भी इतिहासज्ञ विद्वान् द्वारा नहीं मानी गई है। इस पर प्रायः सभी इतिहासज्ञ विद्वान् एक मत हैं। किंतु इनकी पूर्व सीमा के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि ये महाकवि भास के परवर्ती हैं, क्योंकि इन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में भास का नामोल्लेख किया है—

'मा तावद्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धान् अतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः'।

—प्रथमाङ्क।

भास का समय यदि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समकालीन माना जाय, जैसा कि हमने अपने हिन्दी-मेघदूत-विमर्श की भूमिका में (पृ० ९१–१०७

तक) विवेचन किया है, ईसवी सन् की तीन शताब्दी पूर्व, तो कालिदास की पूर्व और उत्तर सीमा में लगभग आठ शताब्दियों का एक बड़ा लम्बा अन्तर है। किन्तु जहाँ तक हमारी धारणा है, कालिदास के मालविकाग्निमित्र और रघुवंशादि की रचना में अग्निमित्र और उसके पिता पुष्पमित्र के चरित्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, अतएव इनका स्थिति काल शुङ्गवंशीय अग्निमित्र के राज्यकाल में होना सम्भव है, जिसका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग है[1]।

यहाँतक नाट्यशास्त्र के विषय में उपलब्ध बाह्य-प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। अब हम इन बाह्य-प्रमाणों के आधार पर अन्य विद्वानों के मत जो नाट्यशास्त्र के समय-निर्णय पर पहिले (पृ० ३९,४०) में प्रदर्शित किये हैं, उनमें सबसे प्रथम हम नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा जिसे श्री काणे ने कालिदास के समय पर निर्भर रक्खा है, उस पर विचार करते हैं। सम्भवतः उन्होंने विक्रमोर्वशीय नाटक मे जो भरत का नामोल्लेख है, (जैसा कि पहिले दिखाया गया है) उसी पर यह मत स्थिर किया है कि भरतमुनि कालिदास के पूर्ववर्ती हैं। किन्तु जहाँ तक ध्यान देकर देखा जाता है नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा कालिदास के अधिकाधिक पूर्व जा सकती है। कालिदास के पूर्व भास नामक प्रसिद्ध कवि—जिनके

---

१ इस विषय पर हमने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श पेज ९१ से १०७ तक विस्तृत विवेचन किया है।

विषय में अभी कहा गया है, उनके बहुत से नाटक अब सौभाग्यवश प्रकाशित हो गये हैं। उन नाटकों की रचना में भी नाट्य-विषयक नियमों का उसी प्रकार पालन किया गया है, जैसा कि उसके परवर्ती कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में भरतमतानुसार दृष्टिगत होता है। इस बात को श्री S K दे बाबू भी स्वीकार करते हैं। इस परिस्थिति में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भास, सौमिल्ल आदि ने जो नाटक-रचना की, वह किस नाट्य-पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ के आधार पर की ? अतएव यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भास आदि के प्रथम नाट्य-नियम विषयक कोई ग्रन्थ अवश्य था, क्या कारण है कि वह ग्रन्थ हम उपलब्ध प्राचीनतम नाट्यशास्त्र के सिवा अन्यतम कल्पना करें, जब कि तत्कालीन किसी अन्य ग्रन्थ का पता ही नही चलता है। फिर नाट्यशास्त्र की अतिम सीमा कम से कम भास से भी प्राचीनतम न मान कर कालिदास तक ही क्यों माने। भास का समय उसकी वासवदत्ता नाटिका की भूमिका में श्री गणपति शास्त्री ने ईसवी सन् के पूर्व आठवीं शताब्दी के श्री पाणिनि के भी प्रथम स्थिर किया है, किंतु वह भ्रमात्मक है, सम्भवतः भास का समय ई० सन् के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी के लगभग सम्राट् चंद्रगुप्त के राज्यकाल में प्रतीत होता है, जैसा कि पहिले कह चुके हैं। अतएव श्री काणे की निर्धारित अतिम सीमा भ्रांत सिद्ध होती है। और इसके साथ ही श्री S K दे बाबू की कल्पना भी, क्योंकि वह भी ऐसी ही निर्मूल युक्तियों पर अवलम्बित है। S K दे बाबू अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव-भारती और

दामोदरगुप्त के द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेख और नाट्यशास्त्र में गद्य, कारिका, एवं सूत्र तीन अंश होने के आधार पर नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान रूप ईसवी की आठवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमान करते हैं, किन्तु इन आधारों के द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि ईसवी की आठवीं शताब्दी के कुछ पूर्व ही नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान रूप हुआ ? और इसके अत्यन्त प्राचीनतम महाभारत आदि के पूर्व नहीं। S. K. दे बाबू कहते हैं "गद्य, सूत्र, भाष्य-शैली और सक्रम-कारिका यह चार अंश जो भरत नाट्यशास्त्र में हैं यह एक कालिक न होकर भरत की कृति इन परिवर्त्तनों द्वारा इस वर्त्तमान रूप में है" और वे यह भी कहते हैं "यद्यपि यह शैली दशमी शताब्दी के एक लेखक द्वारा लिखे गये काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है, पर भरत नाट्यशास्त्र पर यह नियम लागू नहीं हो सकता"। कहिये तो इस कल्पना की उडान का भी कुछ ठिकाना है ? प्रश्न होता है कि दशमी शताब्दी के एक लेखक के लिखे हुए ग्रन्थ में उपलब्ध शैली नाट्यशास्त्र के विषय में क्यों नहीं लागू हो सकती ? जब कि हमको काव्यप्रकाश आदि के भी बहुत पूर्व के लेखक द्वारा लिखे गये कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों मे भी यही शैली दृष्टिगत होती है। और देखिये, भवभूति के उत्तररामचरित का अवतरण जो ऊपर उद्धृत किया गया है, उस पर S K दे बाबू यह एक अभूतपूर्व कल्पना करते हैं कि 'भवभूति के समय में पौराणिक भरत और नृत्य-संगीत विषयक सूत्र-ग्रन्थ का लेखक भरत एक ही समझे जाने लगे थे'। किन्तु आश्चर्य यह है

कि पौराणिक भरत को और नाट्यशास्त्र के लेखक भरत को उन्होंने किस आधार पर भिन्न-भिन्न कल्पना कर लिया ? किन्तु इस विषय में दे बाबू मौन हैं। अतएव उनकी इस निर्मूल कल्पना का उद्देश्य सिवा इसके और क्या हो सकता है कि भवभूति के उल्लेख द्वारा भरतमुनि प्राचीनतम सिद्ध होते हैं और दे बाबू को ऐसा अभीष्ट नहीं ?

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक निर्धारित हो चुकी, किन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक तो पहुँच जाती है, जब कि भास के पूर्वकालीन काव्य और नाटक अनुपलब्ध हैं।

अच्छा, यह तो हुई उत्तर सीमा की बात, अब नाट्यशास्त्र की पूर्व सीमा अर्थात् यह ग्रन्थ अमुक निर्दिष्ट काल के प्रथम का नहीं, इसके लिये कोई दृढ़ साधन नहीं। उल्लिखित विद्वान् लेखकों ने जो सम्भावना की है वह नितान्त निराधार है। S K दे बाबू नाट्यशास्त्र में 'यवन' आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही इसकी पूर्व सीमा ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व नहीं मानते, किन्तु 'यवन' शब्द के प्रयोग के विषय में—जैसा कि हम आगे महाभारत के प्रसंग में स्पष्ट करेंगे, ऐसी धारणा किया जाना सर्वथा भ्रमात्मक है। खेद है कि वस्तुतः सभी विद्वान् ऐतिहासिक लेखकों ने केवल उत्तर सीमा के ही आधार पर—उससे कुछ समय पूर्व एक या दो शताब्दी पीछे हटा कर नाट्यशास्त्र के समय की कल्पना की है, किन्तु यह कल्पना तो ठीक उसी प्रकार की है, जैसे हम चन्द्रालोक जाने के

इच्छुक होकर वायुयान (Aeroplane) मे बैठकर आकाश की ओर उर्द्धगामी हों और १० माइल के लगभग ऊपर—जहां तक उसकी गति न रुके, जाकर आगे जाना अगम्य हो जाने पर यह धारणा कर ले कि 'यहा तक तो निश्चय रूप से चन्द्रालोक नहीं है, पर संभवतः यहा से दो चार माइल ऊपर अवश्य होगा' कहिये तो ऐसी कल्पनाओं का क्या मूल्य हो सकता है, जब कि इन कल्पनाओं के विरुद्ध श्री भरत मुनि को अत्यन्त प्राचीनतम स्वीकार करने को उपर्युक्त उद्धरण ही हम को आकर्षित करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में कालिदासादि के नाटकों में श्री भरत मुनि का ब्रह्मादि देवों के साथ साक्षात्सम्बन्ध और महर्षि वाल्मीकि आदि के समकालीन होना उल्लिखित है। यद्यपि नाटको के वाक्य एक बार ही सत्य नहीं–कल्पित होना भी संभव है, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ऐसी धारणाओं की कल्पना किसी भी लेखक द्वारा क्या अपने से १००० या ५०० बर्ष के पूर्ववर्ती व्यक्ति के विषय में की जा सकती है ? वैदिक और पौराणिक महर्षियों के सिवा क्या आजतक किसी अन्य ग्रन्थ-लेखक के विषय मे ऐसी कल्पनाए किसी लेखक द्वारा की गई है ? क्या हम भी अब से १००० या ५०० वर्ष पूर्व के किसी व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा कर सकते हैं ? अतएव क्या यह सभव है कि कालिदास द्वारा उसके १००० या ५०० वर्ष पूर्व के व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा का उल्लेख किया जा सकता था ? किसी भी ग्रन्थ का निश्चयात्मक समय तो तभी कहा जा सकता है, जब उसमे उसके पूर्वकालीन किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख हो, जिसका

समय निश्चित हो गया हो। पर जब कि नाट्यशास्त्र में किसी निश्च-यात्मक समय के ग्रन्थ का नामोल्लेख ही नहीं है, और जब कि उसकी पूर्व सीमा अत्यन्त प्राचीनतम—अज्ञात काल स्वीकार करने के विरुद्ध हमारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है तो हम किस आधार पर उसे इतने अर्वाचीन काल में घसीट कर ला सकते हैं ? इस प्रकार की कल्पना का आधार केवल पश्चिमीय विद्वानों की अनर्गल लेखिनी से निकाले हुए निराधार उद्गार मात्र हैं, और उन्ही के गतानुगतिक होकर गड्डुरिका प्रवाह न्याय से हमारे एतद्देशीय विद्वान भी उन्ही उद्गारों को अपनी लेखिनी से प्रवाहित कर रहे हैं। किन्तु ऐसे निर्बल और अप्रमाणिक कल्पनाओं के आधार पर निर्मित विशाल अट्टालिका क्या स्थिर रह सकती है ? अस्तु

यहां तक नाट्यशास्त्र विषयक वाह्य प्रमाणों पर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि नाट्यशास्त्र में वर्णित साहित्यक विषय पर ध्यान दिया जाय तो, प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि अलङ्कार शास्त्र के प्राचीन लेखक हमारे परिचित भट्टि, भामह, दण्डी और उद्भट आदि जब कि ३८ से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण करते हैं, तब नाट्यशास्त्र में केवल उपमा, रूपक, दीपक और यमक यही चार अल-ङ्कार हैं—जो कि विकास-क्रम का सर्व प्रथम रूप है। भामह सबसे पहिले इन्हीं चारों को प्रथम वर्ग में दिखलाता है। यद्यपि भामह ने प्रथम वर्ग में पाँचवा अनुप्रास भी रक्खा है, पर यमक और अनुप्रास एक ही कक्षा के हैं, अतः भामह ने भी 'अनुप्रासः स यमको' यही

कहा है। यदि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप ई० ८०० शताब्दी के लगभग होता—जैसा कि दे बाबू की कल्पना है, तो फिर यह क्या संभव था कि अन्य विषयों के परिवर्द्धन के साथ साथ अलङ्कार विषय का परिवर्द्धन न किया जाता ? यदि किसी लेखक द्वारा नाट्यशास्त्र का परिवर्द्धन किया जाना कल्पना किया जाय तो साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना अनिवार्य होगा कि उसे अपने समय में प्रचलित काव्य और नाट्य के अन्य सभी विषयों का नाट्यशास्त्र में समावेश करना अभीष्ट था। इस अवस्था में प्रश्न होता है कि अन्य अन्य विषयों के साथ अधिक अलङ्कारों का भी समावेश अवश्य ही किया जाता, पर ऐसा नहीं है। यह भी नहीं कि ८ वी शताब्दी तक अधिक अलङ्कारों का निरूपण न होने पाया था, क्योंकि ८ वीं शताब्दी के पूर्व के भट्टि, भामह और दण्डी आदि के ग्रन्थों में ४० से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण है। दूसरी बात यह भी है कि यदि नाट्यशास्त्र का ८ वीं शताब्दी में परिवर्द्धित किया जाना माना जाय तो, उसके लिये किसी अन्य ग्रन्थ का आदर्श भी होना आवश्यक है, किन्तु दे बाबू नहीं बतला सके हैं कि अमुक ग्रन्थों के आधार पर नाट्य-शास्त्र परिवर्द्धित किया गया है। ऐसी परिस्थिति में नाट्य-शास्त्र के अन्तरङ्ग प्रमाणों द्वारा भी इसकी पूर्व सीमा का समय निर्णय और इसके वर्त्तमान रूप को किसी द्वारा परिवर्द्धित किया जाना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के पूर्व नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय है।
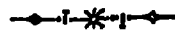
पौराणिक काल।

'पुराण' शब्द का प्रयोग वेद की श्रुतियों में भी है—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।"

यह श्रुति छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ७ खण्ड १, २) की है। ब्रह्मविद्या के उपदेश लेने को गये हुए देवर्षि नारदजी से यह प्रश्न करने पर कि तुम्हारा अध्ययन इस विषय में कहां तक है, भगवान् सनत्कुमार के प्रति यह नारदजी की उक्ति है। इसमें ऋग्वेदादि के साथ इतिहास पुराण का पञ्चम वेद की संज्ञा से उल्लेख है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि 'पुराण' का समय वैदिक काल के समकालीन है। यहां काल विभाग के प्रसङ्ग में 'पौराणिक काल' से हमारा प्रयोजन भगवान् श्री वेदव्यास-प्रणीत महाभारत और अष्टादश महापुराणों के रचना-काल से है।

महाभारत

'व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति'॥

पौराणिक काल में सबसे प्रथम प्रायः सभी महाकाव्य और नाटकों का उद्गम स्थान परमोत्कृष्ट महाकाव्य महाभारत उपलब्ध होता है। महाभारत के विषय में महाभारत ही में कहा है—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'॥

भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थों में महाभारत का सर्वोच्च स्थान है। क्या धार्मिक, क्या राजनैतिक, क्या व्यावहारिक, क्या ऐतिहासिक क्या भू-गौलिक और क्या काव्य भारतवर्षीय सम्पूर्ण साहित्य प्रायः महाभारत पर अवलम्बित है। इस ग्रन्थरत्न के महत्व पर केवल भारतवर्षीय ही नहीं, किन्तु सुप्रसिद्ध अनेक पाश्चात्य विद्वान मि० हापकिन्स,[१] विंटरनीज,[२] मेक-डोनल,[३] ओनरेबिल माउंट स्टुवर्ट एलफिन्स्टन,[४] सिलविन-

---

१. Cambridge History of India, Vol. 1 p 256.

२. "The Mahabharat is not ONE poetic production at all, but rather a whole literature"—Winternitz History of Indian Literature, Vol. I, p 316 " . (Mahabharat) the most remarkable of literary productions." Ibid p. 321

३ " th e Mahabharat constitutes a moral encyclopaedia, in an inexhaustible mine of Proverbial Philosophy."

—Macdonell Sanskrit Literature p 378

४. " Milman and Schlegel Vie With Wilson and Jones in their applause, we learn the simplicity and originality of composition, the sublimity, grace and pathos the natural dignity of the actors "
—Mountstuart Elphinstone · The History of India, p 170

लेवी,[१] प्रोफेसर हिरीन[२] और मोनियर विलियम्स[३] आदि भी मुग्ध हैं।

महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु इतिहास के साथ-साथ जिस प्रकार धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक आदि विषयों का इसमें समावेश है, उसी प्रकार काव्य-दृष्टि से इसे देखा जाय तो यह अनेक महा-काव्य और नाटकों का भी उद्गम स्थान है। यद्यपि काव्य संज्ञा से यह नहीं पुकारा जाता है, किन्तु महाभारत को स्वयं भगवान् श्री वेदव्यास और परमेष्ठि ब्रह्माजी द्वारा 'काव्य' संज्ञा दी गई है, जैसा कि—

'उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
कृत मयेदं भगवान् काव्यं परमपूजितम्' ॥ १।६१
'त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति'। १।७२
—महाभारत आदि पर्व।

इन वाक्यों से स्पष्ट है। महाभारत की काव्य-संज्ञा केवल

---

१. "The Mahabharat is not only the largest, but also the grandest of all epics." P. C. Roy's Translation of Mahabharat

२. Historical Researches into Politics etc. of the Principal Nations of the antiquity, Vol 11 ch. I p 164

३. " a Vast cyclopaedia or thesaurus of Hindu mithology, legendry, history, ethics and philosophy" —Sir Monier Monier—Williams Indian Wisdom p. 370.

नाम मात्र ही नही, किन्तु यह काव्य-शैली की रचना से भी परिपूर्ण है[1]। सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इसके अनेक पद्य रीति-ग्रन्थों में उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने शान्तिपर्व का—

'अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १५५) में अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि के उदाहरण में और—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः'॥

—स्त्री पर्व अ० ६४

इस पद्य को ध्वन्यालोक (पृ० १६९) में रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में उद्धृत किया है। और आचार्य मम्मट ने भी काव्य प्रकाश (उल्लास ५ पृ० २३३)[2] में इसे अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्गय के उदाहरण में रक्खा है; और—

'अलंस्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्'......

—शान्तिपर्व आपद्धर्म (३।१५३)

---

१. " . abounds with the poetical beauties of the first arder "—James Mill & H. H. Wilson . History of British India Vol 11, ch 9, p 52.

२ श्री वामनाचार्य टीका निर्णयसागर प्रेस द्वितीय संस्करण।

इत्यादि कुछ पद्य काव्यप्रकाश (उल्ला० ३।२ पृ० १९९) में प्रबन्ध-ध्वनि के उदाहरण में दिया है। महाभारत में अलङ्कार-गर्भित रचना तो स्थल स्थल पर है, उसके अवतरण दिखाया जाना व्यर्थ विस्तार है। इसके अतिरिक्त किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीय-चरित आदि अनेक महाकाव्य एवं शकुन्तला, वेणीसंहार आदि अनेक नाटकों का मूलश्रोत महाभारत ही है। इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत स्वयं ही महाकाव्य नहीं, किन्तु अन्य अगणित महाकाव्यों और नाटकों का आधारभूत और उनके प्रणेता महान् साहित्याचार्य एवं महाकवियों के लिये आदर्श भी है। इस विषय में महाभारत में प्रथम ही उल्लेख किया गया है—

'इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः'। २।३७२
'इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते'॥ २।३७६

—आदि पर्व

महाभारत पर एतद्देशीय और विदेशीय अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने इसके निर्माता और रचना-काल के विषय मे भी आलोचनात्मक विवेचन किया है। उनमें यद्यपि परस्पर कुछ मतभेद अवश्य है, पर उन सभी लेखों का मूलश्रोत एक ही है—वे सभी लेख पाश्चात्य दृष्टि-कोण से ही लिखे गये हैं। उन लोगों का मत है कि भगवान् वेदव्यासजी-प्रणीत 'भारत' इतना बड़ा ग्रन्थ नहीं था, बाद में अन्य विद्वानों द्वारा यह परिवर्द्धित किया

गया है †। केवल पाश्चात्य लेखकों ने ही नहीं, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है ‡। सखेद आश्चर्य तो यह है कि राय बहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम, ए० एल-एल० बी० ❀ जिनका महाभारत के आलोचकों में प्रधान स्थान है, पाश्चात्य लेखकों की आलोचना करते हुए भी इस संक्रामक रोग से न बच सके, श्री वैद्य महाशय कहते हैं, कि—

"महाभारत ग्रन्थ में करीब १ लाख श्लोक हैं। यह असंभव

---

†. Winternitz. A History of Indian Literature Vol I pp. 318–320, 324–326, 459

Macdonell Sanskrit Literature p. 284

Weber : History of Indian Literature p 187.

Max Muller. History of Ancient Sanskrit Literature pp. 43–47

Mauntstuart Elphinstone : The History of India p 169.

Vicent A. Smith. The Oxford History of India p 28

Lionel D Barnett. Antiquities of India p. 11.

‡ B. S Dalal A History of India p 276.

Rameshchandra Datt History of Civilisation in Ancient India Vol I p 155.

R. C. Majumdar : Ancient Indian History p. 266

❀ श्री वैद्यजी ने 'महाभारत का उपसंहार' नामक एक महत्व पूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ महाराष्ट्र भाषा में लिखा है। और उसका हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय पं० श्री माधवराव

जान पड़ता है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। व्यासजी के ग्रन्थ को वैशंपायन ने बढ़ाया और वैशंपायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ा कर एक लाख श्लोकों का कर दिया।"

—महाभारत-मीमांसा पृ० ५

श्री वैद्य जैसे महाभारत के अध्ययनशील इतिहासज्ञ विद्वान् की इस कल्पना पर बड़ा आश्चर्य होता है, जब कि वे यह भी कहते हैं कि—

"वैशपायन द्वारा रचे गये ग्रन्थ में २४००० श्लोक थे।······ ·····सौति ने एक लाख श्लोकों का महाभारत बना डाला"।

—महाभारत-मीमांसा पृ० ८।

इस अवतरण द्वारा स्पष्ट है कि आप २४००० से अधिक अर्थात् ७६००० श्लोक सौति द्वारा रचित मानते हैं। क्या ही विलक्षण कल्पना है, सौति जैसे एक व्यक्ति द्वारा ७६००० श्लोकों की रचना तो आप संभव स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् श्री वेदव्यासजी जैसे एक महानुभाव द्वारा १ लाख श्लोकों की रचना असम्भव बतलाते हैं।

सप्रे का किया हुआ भारतमीमांसा नामक ग्रन्थ लक्ष्मी नारायण प्रेस बनारस में मुद्रित हुआ है। और उन्होंने अंग्रेज़ी में भी 'The Mahabharta : A Criticism' नामक ग्रन्थ महाभारत पर लिखा है, यह दोनों ही ग्रन्थ बड़े महत्त्व पूर्ण हैं।

अस्तु, व्यासजी जैसे त्रिकालज्ञ महानुभावों की तो बात ही क्या है जब कि विक्रम की १८ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य पाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी प्रणीत ९ लक्ष श्लोक संख्या के संस्कृत ग्रन्थ अद्यापि उक्त सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्यों के समीप सुरक्षित हैं [१]। भक्तकवि श्री सूरदासजी, एवं महाराष्ट्र महाकवि मोरोपन्त आदि के ग्रन्थ भी अनुष्टप् श्लोकों की एक लक्ष की संख्या तक उपलब्ध हैं। यही नहीं, विक्रम की वर्तमान शताब्दी के ही एक लेखक बूंदी-राज्याश्रित महाकवि मिश्रण सूर्यमलजी चारण-प्रणीत-एक लक्षात्मक 'वंशभास्कर' ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, सौरसेनी, मागधी और ब्रजभाषा का मुद्रित हुआ है। श्री वैद्य अपनी इस कल्पना की पुष्टि में कहते हैं—

"इसके प्रमाण में सौति का यह वचन है कि—

'एकं शतसहस्त्रं च मयोक्तं वै निबोधत'।

अर्थात् एक लाख श्लोकों का महाभारत मैंने कहा है। इससे स्पष्ट है"। —महा-मी० पृ० ५।

किन्तु इस श्लोकार्द्ध में प्रयुक्त जिस 'मयोक्त' के आधार पर यह कल्पना की गई है, वह सर्वथा भ्रान्त है—इसके द्वारा श्री वैद्य की कल्पना की पुष्टि किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि इस पद्यार्द्ध के प्रथम—

---

१ देखो गोस्वामि श्री पुरुषोत्तमजी प्रणीत अवतार वादावली की भूमिका पृ० ४।

'षष्टि शतसहस्त्राणि चकारान्यां स संहिताम् ।
त्रिंशच्छतसहस्रञ्च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।।
पित्र्ये पञ्चदशप्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ।
एकं शतसहस्रं तु मनुष्येषु प्रतिष्ठितम् ।।
नारदो श्रावयेद्देवानसितो देवलः पितॄन् ।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।।
अस्मिन्तु मानुषे लोके वैशंपायनउक्तवान् ।
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदाम्बरः ।।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ।

—महाभारत आदिपर्व ११०२-१०७ ।

यह उल्लेख है । इस अवतरण के अन्तिम पद्यार्द्ध में प्रयुक्त 'एकं शत-सहस्त्रं' का (एक लाख का) सम्बन्ध वैशंपायन ऋषि और भगवान् वेद-व्यासजी के साथ भी उसी प्रकार है, जिस प्रकार 'मयोक्तं' के प्रयोग द्वारा सौति के साथ है । अर्थात् 'वेदव्यासजी ने ६० लाख श्लोकों के महाभारत की रचना की, जिसमें ५९ लाख श्लोकात्मक ग्रन्थ देवलोक आदि में श्री नारद आदि वक्ताओं के द्वारा कहा गया और शेष एक लाख लोकात्मक ग्रन्थ मनुष्यलोक में वैशपायन ऋषि ने राजा जनमेजय को कहा, वह एक लाख श्लोकों का महाभारत मेरा कहा हुआ आप सुनें' [१] । खेद है, श्री वैद्य ने 'मयोक्तं' के प्रथम जो

१. 'मयोक्तं' का अर्थ नीलकण्ठी टीका में—'मया उच्यमानं

पाठ ऊपर उधृत है, उस पर क्यों नहीं ध्यान दिया ? अथवा ध्यान देकर भी दुराग्रहवश ऐसा उल्लेख क्यों किया ?

अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओं के जाल में फँस कर विभिन्न लेखकों ने महाभारत में वर्णित बहुत से कथा-प्रसङ्गों को कालक्रम से अन्य विद्वानों द्वारा बढ़ाया जाना बतलाया है [१]। मि० वेबर ने तो यह कहा है कि पाण्डवों का चरित भी कल्पित है और महाभारत में पीछे से जोड़ा गया है [२]। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने पाण्डवों का भारतीय युद्ध भी काल्पनिक बतलाया है [३]। सर मौनियर विलियम्स ने तो यहां तक कहा है कि श्री मद्भगवत्गीता भी—प्रक्षिप्त—पीछे से जोड़ी गई है [४]। और मि० विसेन्ट ए० स्मिथ ने

वैशंपायनेन उक्तं निबोधत अर्थ तो बुध्यस्व' किया गया है। जिसका भाव यह है कि मेरे द्वारा कहे जाने वाला, वैशंपायन द्वारा कहा हुआ आप समझिये।

१. Winternitz A History of Indian Literature Vol 1. p 459.
Mountstuart Elphinstone. The History of India p 169
Lionel D Barnett: Antiquities of India p 11
Ramesh Chandra Majumdar. Outline of Ancient Indian History and Civilization, p 266

२ Weber History of Indian Literature p 136.

३. Ramesh Chandra Dutt History of Civilization in Ancient India, Vol 1, p. 122

४. Sir Monier Monier—Williams. Indian Wisdom p. 317.

केवल गीता ही नहीं महाभारत के सभी कथा-भाग को काल्पनिक बतलाने का दुस्साहस किया है [१]। किन्तु मि० वेबर आदि की इन कल्पनाओं को प्रोफेसर ई० बासबोर्न हापकिन्स (Hopkins) ने भी अनाधार बतलाया है [२]। यही नहीं मि० जे० डाल्मेन [३] (J. Dahlmann), मि० ओल्डनवर्ग [४] और मि० सिलवियन लेवी [५] आदि, जो कि महाभारत के अत्यन्त अध्ययनशील प्रसिद्ध विद्वान् हैं, महाभारत को एक ही लेखक का निर्मित दृढता के साथ स्वीकार करते हैं। किन्तु मि० विन्टरनीज नें इनके मत को केवल यही कह कर अस्वीकार कर दिया है कि श्री वैद्य, इस मत के विरुद्ध हैं जो कि एक भारतीय विद्वान् हैं [६]। वैद्यजी ने यद्यपि मि० वेबर आदि की बहुत सी अनाधार कल्पनाओं का मार्मिक खण्डन किया है, तथापि वे भी सौति द्वारा महाभारत का परिवर्द्धित किया जाना तो अवश्य कल्पना करते हैं, और इस अनाधार कल्पना को पुष्ट करने के

---

१. Vincent A. Smith: The Oxford History of India pp. 29, 31

२. Cambridge History of India, Vol. I p 253

३. J. Dahlmann · Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbach.

४ Oldenberg . Das Mahabharata.

५. Bhandarkar com. Vol pp 99 ff (Annals of Bhandarkar Institute, Vol 1, Part 1, 13 ff.)

६. Winternitz History of Indian Literature Vol 1 p. 459 f n 1

लिये उन्होंने आदिपर्व के प्रथमाध्याय में धृतराष्ट्रोक्त—'यदाश्रौषं' पदयुक्त जो ६७ श्लोक प्राचीन वैदिक शैली के त्रिष्टुप छन्दों में हैं, और जिनमें ऐसे बहुत से प्रसङ्ग वर्णित हैं, जिनके द्वारा यह कल्पना स्पष्ट निर्मूल सिद्ध हो जाती है, उन ६७ श्लोकों को भी सौति द्वारा जोड़ा हुआ बताते हैं [१]। महाभारत के बहुत से कथा प्रसङ्गों के साथ-साथ आपने भगवान् श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में विराट रूप दिखाना भी सौति का कल्पित अनुमान किया है,[२] किन्तु आश्चर्य यह है कि भीष्मपर्वान्तरगत श्री भगवद्गीता में वर्णित विराट रूप का दिखाया जाना आप श्री व्यासजी द्वारा उल्लिखित स्वीकार करते हैं,[३] जब कि दोनों वर्णनों में अभूतपूर्वता एक ही समान है। अस्तु.

अब दृष्टव्य यह है कि वैद्यजी ने जो यह कल्पनाएँ की, उनके लिये आपके पास प्रमाण क्या हैं, श्री वैद्य स्वयं स्पष्ट कहते हैं—

"व्यासजी के मूल ग्रन्थ और वैशंपायन के भारत में बहुत अन्तर न होगा। परन्तु भारत में २४००० श्लोक थे और महाभारत में एक लाख श्लोक हो गये हैं। तब हमें मानना पड़ता है कि यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है। परन्तु ऐसा मानते हुए भी

---

१ महाभारत मीमांसा पृ० ८२, ८३, ८७, ८८, ७६, ५५, ५५६, ५६०, ५६५।

२ महाभारत मीमांसा पृ० १२

३ महाभारत मीमांसा पृ० ३०

.... कोई दृढ़ प्रमाण नहीं दिया जा सकता। इस विषय का विचार साधारण अनुभव से ही किया जा सकता है"।

—महा० मीमांसा पृ० १७

बस, जिन वैद्यजी के मत के आधार पर मि० विन्टरनीज ने मि० डालविन और मि० सिलवियन लेवी जैसे विद्वानों का मत अमान्य समझा है, उन श्री वैद्यजी द्वारा महाभारत जैसे आर्ष-ग्रन्थ का ¾ भाग सौति द्वारा परिवर्द्धित बतलाने का भयंकर दुस्साहस करने का केवल उनका अनुमान मात्र आधार है। किन्तु वैद्यजी ने २४००० श्लोकों की रचना मात्र श्री व्यासजी की जिस आधार पर कल्पना की है, उसका महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है—

'चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥'

—आदि पर्व १।१०२

ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें २४००० श्लोकों की संख्या उपाख्यानों के कथाविभाग के बिना स्पष्ट कही गई है। फिर एक बात यह भी है कि यदि सौति को अपने निर्मित ७६००० श्लोकों को श्री व्यासजी की कृति बतलाना ही अभीष्ट होता तो वह २४००० संख्या का उल्लेख ही क्यों करता अतएव श्री वैद्य महाशय की यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

महाभारत का निर्माण-काल

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में भी विभिन्न लेखकों ने अनेक निर्मूल कल्पनाए की हैं। मि० हापकिन्स[1], विन्टरनीज[2], मेकडानल[3], विन्सेन्ट स्मिथ[4], और मि० मौनयर विलियम्स[5] आदि पाश्चात्य विद्वानों के भी भिन्न-भिन्न मत हैं। उन्होंने महाभारत का निर्माण-काल ईसवी सन् के पूर्व ५०० वर्ष से ईसवी सन् के पश्चात् चौथी शताब्दी तक कल्पना किया है। किन्तु इनके मतो के विरुद्ध अनेक युक्तिया दिखला कर श्री वैद्य महाशय ने इनकी कल्पनाओं का पर्याप्त खण्डन कर दिया है। श्री वैद्यजी ने महाभारत के निर्माण-काल को दो भागों मे विभक्त करते हुए, एक काल में—भारतीय युद्ध के बाद श्री वेदव्यासजी द्वारा भारत का निर्माण किया जाना बताया है, और वेदव्यासजी का समय श्रीवैद्य भारतीय युद्ध के समय ईसवी सन् के ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं और मूल भारत का निर्माण-काल भी वे ईसवी सन् के ३००० वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। किन्तु वर्त्तमान उपलब्ध महाभारत को श्रीवैद्य ईसवी सन् के पूर्व

---

१ Cambridge History of India, Vol. 1, p 258

२ Winternitz History of Indian Literature, Vol. 1, p. 465

३ Macdonell : Sanskrit Literature, p 285-287.

४. Vincent A Smith . Oxford History of India, p 33

५. C V Vaidya The Mahabharata A Criticism.

२०० से ४०० वर्ष तक सौति द्वारा परिवर्द्धित मानते हैं[1]। इन कल्पनाओं का यदि कोई अकाट्य प्रमाण प्रदर्शित किया जाता तो, हमको स्वीकार करने में कोई आपत्ति न थी, पर पाश्चात्य विद्वानों के जिन भ्रान्त आधारों पर यह मत स्थिर किया गया है, उनमें प्रधानतया उल्लेखनीय ये हैं—

(१) मेगस्थिनीज नामक ग्रीक विद्वान् सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय ईसवी सन् के ३०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में आया था, उसने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक में महाभारत विषयक उल्लेख नहीं किया, जब कि उसने भारतवर्ष विषयक अपनी ज्ञात की हुई बहुत सी बातों का उल्लेख किया है अतः मि० वेबर[2] और श्री वैद्य की कल्पना है कि उस समय एक लक्षात्मक महाभारत न होगा[3]।

(२) डायोन क्रायसोस्टम यूनानी विद्वान् ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत के पाण्ड्य, केरल आदि भागों में आया था, उसने हिन्दुस्तान में एक लाख श्लोकों का इलियड (महाकाव्य) का उल्लेख किया है। अतः श्री वैद्य का मत है कि ईसवी सन् के २५० वर्ष पूर्व महाभारत

---

१. C V. Vaidya The Mahabharat. A Criticism और महाभारत मीमांसा पृ० १४०, १५२।

२. Weber History of Indian Literature, p. 186.

३. महाभारत मीमांसा पृ० ४४।

तैयार होकर ईसवी सन् ५० में डायोन क्रायसोस्टम के दृष्टिगत हुआ होगा [१]।

(३) महाभारत में 'यवन' शब्द का उल्लेख है, इस पर मि० वेबर कहते हैं कि महाभारत ईसवी सन् के कई शताब्दियों बाद का है [२]। श्री वैद्य कहते हैं कि 'यवन' शब्द का प्रयोग संभवतः सिकन्दर के लिये है अतः महाभारत की पूर्व-सीमा ईसवी सन् के पूर्व ३०० वर्ष से अधिक पहिले की नहीं [३]।

(४) महाभारत में छन्दों का प्रयोग।

अच्छा, अब विचारणीय यह है कि उपर्युक्त प्रमाणों पर इस मत की कहां तक पुष्टि होती है, देखिये—

(१) मेगस्थिनीज के ग्रन्थ के विषय में स्वयं श्री वैद्य स्वीकार करते हैं कि—"वह ग्रन्थ नष्ट-भ्रष्ट हो गया है—सम्पूर्ण नहीं मिलता" [४]। ऐसी स्थिति में इसका मूल्य ही क्या हो सकता है ? संभव है, जो अंश अनुपलब्ध है, उसमें महाभारत का उल्लेख हो। स्वयं वैद्य महाशय इस प्रमाण को निर्बल स्वीकार करते हैं [५]।

---

१. महाभारत मीमांसा पृ० ४४; Weber History of Indian Literature, p 186

२. Weber: History of Indian Literature, p 188.

३. महाभारत मीमांसा पृ० ४५।

४. C. V. Vaidya The Mahabharat A Criticism. p 13.

५. महाभारत मीमांसा पृ० ४४।

(२) क्रायसोस्टम द्वारा महाभारत का सर्व प्रथम उल्लेख किया जाना तभी माना जा सकता था, जब कि मेगस्थिनीज विषयक प्रथम प्रमाण पर्याप्त समझा जाता। इसलिये महाभारत की पूर्व सीमा के लिये वह उपयुक्त नहीं हो सकता।

(३) 'यवन' शब्द के प्रयोग से सिकन्दर का ही सम्बन्ध-स्थापन कर लेना यह तो बहुत ही अविश्वसनीय कल्पना है, जब कि भारतवर्ष का यूनानियों से परिचय ईसवी सन् के ८००—९०० वर्ष पूर्व से होना श्री वैद्य भी स्वीकार करते हैं[१]। और वह भी यूनानियों के परिचय की उत्तर सीमा ही समझी जा सकती है, क्योंकि इसके प्रथम का इतिहास ही उपलब्ध नहीं है। जो कुछ हो, प्रथम तो यही सन्देहास्पद है कि महाभारत में प्रयुक्त 'यवन' शब्द से हम यूनानियों का अर्थ ही ग्रहण करें इसमें प्रमाण ही क्या? फिर ईसवी सन् के ९०० वर्ष पूर्व के प्रथम किसी यवन जाति से भारतवर्ष परिचित न था इसका भी क्या प्रमाण? क्या किसी भी देश के प्राचीन इतिहास से यह सिद्ध हो सकता है? प्रत्युत इस कल्पना के विरुद्ध महाभारत में ही यह अन्तः प्रमाण मिलता है कि 'जिस यवन—राज को वीर्यवान् पाण्डुराजा भी परास्त न कर सका था, उसे अर्जुन ने वश कर लिया—

---

[१] महाभारत मीमांसा पृ० ४६।

'न शशाक वशेकर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।
सोऽर्जुनेन वशन्नीतो राजासीद्यवनाधिपः' ॥

—आदिपर्व १२६।२०,२१ ।

इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत के रचना काल में ही नहीं किन्तु उसके भी प्रथम यवनों से परिचय मात्र ही नहीं उनके साथ युद्ध किये जाने का भी महाभारत में उल्लेख है । भारत का युद्ध काल वैद्य ने ईसवी सन् ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार किया है । संभव है इस अवतरण के उल्लेख को सौति द्वारा कल्पित कहने का साहस न किया जायगा, क्योंकि न तो इसमें धार्मिक प्रसङ्ग ही है और न कोई ऐसी अलौकिक घटना ही है, जिसे समावेश करना सौति ने महत्वपूर्ण समझा हो । इसमें अर्जुन के पराक्रम का दिग्दर्शन मात्र है, किन्तु महाभारत युद्ध-प्रसङ्गों में अर्जुन के अभूतपूर्व पराक्रम का जो वर्णन है, उसकी अपेक्षा यह वर्णन सर्वथा अगण्य है । अतएव यह कल्पना भी निर्मूल है, देखिये स्वय वैद्य महाशय क्या कहते हैं—

"इस दृष्टि से शक यवनों के राज्य के पहले भी महाभारत की रचना हो सकती है ।......इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि पहिले कभी हिन्दुस्थान पर म्लेच्छ लोगों की चढाई नहीं हुई" ।

—महाभा० मी० पृ० ७८

(४) छन्दों के प्रयोग के सिद्धान्त को भी श्री वैद्य स्वय काल निर्णय में अनुपयोगी स्वीकार करते हैं । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि श्री वैद्य—"सन्ति लोका वहवस्ते नरेन्द्र" इस पद का उदाहरण दिखला कर, कहते हैं—"जिन-

जिन स्थानों पर इस नमूने के श्लोक पाये जाते हैं, वे बहुत प्राचीन भाग हैं"[1]। परन्तु आश्चर्य है कि फिर भी "यदाश्रौषं" पद के प्रयोग वाले पद्य—जिनके विषय में पहले उल्लेख किया गया है, वे इसी त्रिष्टुप् छन्द में वैदिक शैली के अनुसार ह्रस्वदीर्घ के नियम रहित है, उनको आप सौति द्वारा प्रणीत बताते हैं[2]।

इनके सिवा और भी कुछ युक्तियों द्वारा इन कल्पनाओं की पुष्टि की गई है, किन्तु वे सब कल्पनाएं असंगत एवं अनाधार हैं, जब कि श्री वैद्य ने भी निर्णीत रूप से कुछ नहीं कहा है और जहाँ पर निर्णीत जैसे उनके वाक्य हैं, वे भी पूर्वापर के विवेचन द्वारा आभास मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसी परिस्थिति में इन कल्पनाओं के आधार पर महाभारत का न तो समय-समय पर बढ़ाया जाना ही सिद्ध हो सकता है और न उसके परिवर्द्धित होने का काल ईसवी सन् के दो चार शताब्दियों के पूर्व प्रमाणित हो सकता है। अतएव महाभारत का निर्माण-काल भारतीय युद्ध के अत्यन्त निकटवर्ती है, जैसा कि महाभारत के अन्तः प्रमाणों से सुस्पष्ट है, इसके विरुद्ध कोई भी विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

---

१ महाभारत मीमांसा पृ० ७२।

२ महाभारत मीमांसा पृ० ७३।

अग्निपुराण

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हमको साहित्य-विषयक सबसे प्रथम साहित्यक नियमों का निरूपण मिलता है। भारतीय साहित्य में अग्निपुराण का स्थान अत्यन्त उच्च है। अन्य पुराणों में, सर्गविसर्गादि पौराणिक विषयों का ही प्रायः वर्णन है। किन्तु अग्निपुराण में पौराणिक विषयों के साथ-साथ अन्य सभी ज्ञातव्य विषयों का समावेश है। ऐसा कोई विषय ही नहीं जिसका वर्णन इसमें न हो। अतएव साहित्य का विषय भी अग्निपुराण के ३३७ से ३४७ तक ११ अध्यायों में निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र केवल साहित्य-विषयक ग्रन्थ होने के कारण उसमें इसी विषय का विस्तृत निरूपण है और अग्निपुराण में अन्य ज्ञातव्य विषयों के साथ साहित्य का भी समावेश किया गया है, अतएव सक्षिप्त अवश्य है किंतु संक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसमें निरूपित साहित्य विषय का विवेचन करने के प्रथम अग्निपुराण के काल-निर्णय के विषय में कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है। अग्निपुराण यद्यपि भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी प्रणीत सुप्रसिद्ध अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है, किंतु इसके विषय में भी पाश्चात्य लेखक और उनके अनुयायी एतद्देशीय निभिन्न लेखक अपने अपने कल्पना जाल में फंसे हुए दृष्टिगत होते हैं—

(१) बाबू सुशील कुमार दे[1] अग्निपुराण के अलङ्कार प्रकरण का

---

१ 'हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स,' जिल्द १, पृष्ठ १०२-४।

समय दंडी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के वृत्तिकार श्री आनंदवर्द्धनाचार्य से प्रथम, ईसा की नवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

(२) श्री काणे[१] कहते हैं, कि अग्निपुराण सन् ७०० ई० के पश्चात् का है। और उसका काव्य विषयक अंग ९०० ई० के भी पीछे का है।

अच्छा, अब हम श्री काणे के मत पर ही क्रमशः विचार करना युक्ति-युक्त समझते हैं, क्योंकि उसमें उनके पूर्ववर्ती प्रायः सभी लेखकों के मत सम्मिलित हैं। श्री काणे—

(क) अग्निपुराण के अध्याय ३५९-३६६ में वर्णित कोष विषय में, अमरकोष का कुछ साम्य उपलब्ध होने के कारण, उसे अमरकोष से लिया गया बतलाते हैं। अमरकोष का समय मि० मैक्समूलर साहिब ने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व माना है, क्योंकि इसका अनुवाद चीनी भाषा में छठी शताब्दी में हो चुका था[२] और डा० होरनेल[३] इसका समय ६२५ ई० से ९४० ई० के मध्य में मानते हैं। और मि० ओक ४०० ई० मानते हैं। श्री काणे कहते हैं कि अग्निपुराण में इस लोकप्रिय कोष का समावेश कर लिया गया है।

---

१ 'साहित्यदर्पण' की अँग्रेज़ी भूमिका पृष्ठ ३,४,५।

२ 'इंडिया ह्वाट् कैन इट टीच अस ?', पृष्ठ २३२।

३ 'जर्नल आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९०६, पृष्ठ ९४०।

अब प्रथम तो यही प्रश्न है कि अमरकोष ६०० ई० में लोक-प्रिय हो गया था ? यद्यपि इस समय यह कोष अवश्य ही अधिक प्रचलित और सुप्रसिद्ध है, किंतु इसके द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि इसे यह गौरव प्रारंभ में ही प्राप्त हो गया था। इसके लिये प्रमाण ही क्या जब कि उस समय में किसी ग्रन्थ के प्रचार और लोक-प्रिय होने के लिये केवल हस्तलिपि मात्र का ही साधन होने से अत्यंताधिक समय की अपेक्षा थी। फिर अमरकोष से प्रथम अन्य कोई कोष न था, इसका भी क्या प्रमाण जब कि इसके विरुद्ध अमरकोष के प्रारंभ में स्वयं अमरसिंह ने लिखा है—

समाहृत्यान्यतंत्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
सपूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिंगानुशासनम् ॥

१।२

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने अपने पूर्ववर्ती कोषों से सग्रह कर के अमरकोष लिखा है। संभव है अमरकोष के आधार-रूप कोषों में अग्निपुराण का कोष भाग भी हो। क्या इस कारण से अग्निपुराण और अमरकोष के कुछ भाग में साम्य नहीं हो सकता ? किसी भी दो ग्रन्थों के विषय-विशेष में साम्य उपलब्ध होने पर जब तक कोई दृढ़ प्रमाण प्राप्त न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किससे सहायता ली है। फिर दूसरी बात यह भी है कि अग्निपुराण में यह विषय अत्यंत संक्षिप्त है और अमर में विस्तृत, अतएव श्री काणे की कल्पना से यह कल्पना अधिक मान्य हो

सकती है कि अमरसिंह ने अनेक ग्रन्थों से—जिन में संभव है अग्नि-
पुराण भी हो—नाम संग्रह किए हों और जहाँ-जहाँ से जो जो प्रक-
रण लिए हैं वे लगभग उसी रूप में अपने ग्रन्थ में रख दिए हों।
इस धारणा के विरुद्ध क्या प्रमाण है ? जब कि अमरसिंह के विषय
में तो 'अमरसिंहोहि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्' यह किंवदंती भी
प्रसिद्ध है।

(ख) श्री काणे और दे बाबू कहते हैं—"रूपक, उत्प्रेक्षा, विशे-
षोक्ति, विभावना, अपन्हुति और समाधि अलङ्कारों की परि-
भाषाएं जो अग्निपुराण में (अध्याय ३४४ के २२, २५,
२७, २८ और अध्याय ३४५ के १३, १८ श्लोकों में) दी
गई हैं, वे दंडी के काव्यादर्श में क्रमशः (द्वितीय परिच्छेद
की ६६, २२१, ३२३, १९९, ३०४ और प्रथम परिच्छेद
की ९३ की कारिकाओं से) सर्वथा मिलती हैं, और कुछ
वाक्य एवं पद भी दोनों में समान हैं, जैसे—

एवं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।
—अग्नि० ३३७।२१, काव्या० १।११

साविद्या नोस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।
—अग्नि० ३३७।२३, काव्या० १।१२

अतः यह प्रकरण अग्निपुराण में दंडी के काव्यादर्श से लिया
गया है।"

अच्छा, अब यह देखना है कि श्री काणे आदि की इस कल्पना में कहाँ तक सार है, इसके लिये हम को अग्निपुराण और काव्यादर्श में निरूपित अलङ्कार विषय को संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित करना उपयुक्त होगा। अग्निपुराण के ३४४ वें अध्याय में अर्थालङ्कार का निरूपण इस प्रकार प्रारंभ किया गया है—

"स्वरूपमथ[१] सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि[२,३,४] ।
विभावना[५] विरोधश्च[६] हेतुश्च[७] सममष्टधा[८]" ।।

इसमें आठ अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट हैं। फिर इसके आगे क्रमशः इनकी परिभाषाएँ दी गई हैं और इनके उपभेद दिखाये गए हैं, जिनको हम काव्यादर्श में दिखाये हुए उपभेदों के साथ स्पष्ट करते हैं—

अग्निपुराण	काव्यादर्श	
क्रमसंख्या		क्रमसंख्या
(१) स्वरूप—	स्वभावोक्ति	१
	(स्वरूप के नाम से नहीं है और	
(अ) निज	न इसके उपभेद दिखाये गये हैं)	
(आ) आगंतुक		

(२) सादृश्य—	('सादृश्य' नहीं है)	
(अ) उपमा	उपमा	२
(आ) रूपक	रूपक	३
(इ) सहोक्ति	सहोक्ति	३१
(ई) अर्थांतरन्यास	अर्थांतरन्यास	६
Left column (bracket note): ये चारों सादृश्य के अन्तर्गत लिखे गये हैं।	Middle column (bracket note): स्वतंत्र लिखे गये हैं न कि सादृश्य के अंतर्गत	
(३) उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा	१२
(४) अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति	११
विशेषोक्ति	विशेषोक्ति	२५
(५) विभावना	विभावना	९
(६) विरोध	विरोध	२७
(७) हेतु	हेतु	१३
(अ) कारक	(अ) कारक	
(आ) ज्ञापक	(आ) ज्ञापक	
	(इ) चित्र और इसके अनेक भेद	

(८) 'सम'। इसको अग्निपुराण में शब्दार्थ उभयालंकार माना है। और आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति एवं पर्यायोक्त ये चार अलंकार, (जो काव्यादर्श में स्वतंत्र अलंकार लिखे गए हैं,) इस 'सम' के भेदों में एक 'अभिव्यक्ति' भेद है, इसके अन्तर्गत आक्षेप ध्वनि के उपभेदों में लिखे गए हैं। जैसा कि आगे के विवरण से विदित हो सकता है।
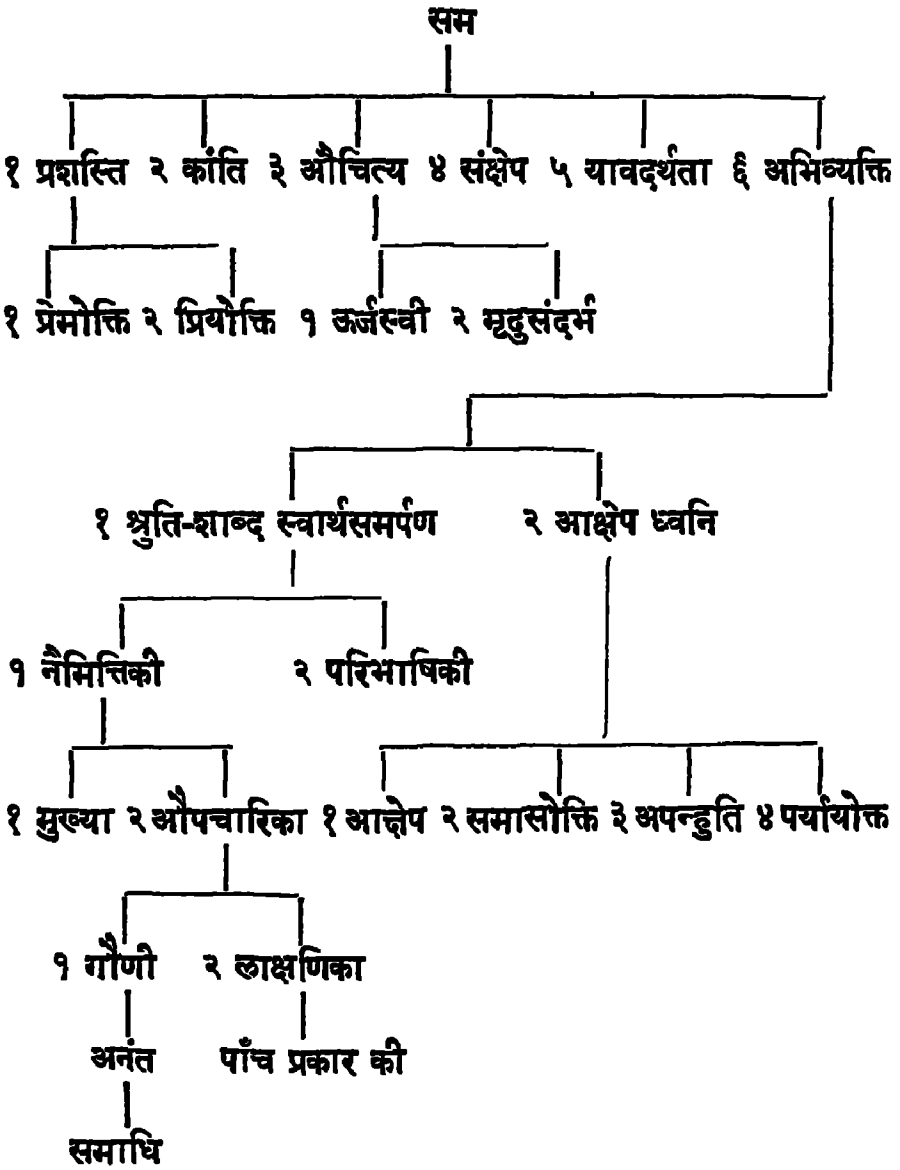
काव्यादर्श में 'सम' नामक कोई अलङ्कार ही नहीं माना गया है और न इसके भेदोपभेद ही दिखाये गये हैं, केवल इनमें आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार स्वतन्त्र अलङ्कार काव्यादर्श में लिखे गये हैं।

इस विवरण द्वारा विदित होगा कि अग्निपुराण में केवल १५ अलङ्कारों का निरूपण है, जब कि काव्यादर्श में इन १५ के सिवा २२ अलङ्कार और बढ़ा कर ३७ अलङ्कारों का निरूपण है। और १५ अलङ्कार जो अग्निपुराण में निरूपित हैं उनमें भी न तो काव्यादर्श के क्रम का ही अनुसरण है और न उसकी वर्णन शैली का। केवल एक स्वभावोक्ति अलङ्कार ही दोनों में ऐसा है जिससे अर्थालङ्कारों के वर्णन का प्रारम्भ होता है, किन्तु उसके भी नाम में भिन्नता है—काव्यादर्श में स्वभावोक्ति अथवा जाति लिखा है, जब कि अग्निपुराण में उसका 'स्वरूप' के नाम से उल्लेख है। काव्यादर्श में उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप से क्रमशः २,३,३१,६ की क्रम-संख्या में हैं किन्तु अग्निपुराण में 'सादृश्य' नामक एक अलङ्कार (जिसकी क्रम-संख्या २ है) माना गया है, और उसके यह (उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास) चार भेद माने गये हैं। काव्यादर्श में आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार अलङ्कार पृथक् पृथक् स्वतंत्र लिखे गये हैं—एक के साथ दूसरे का कुछ घनिष्ट सम्बन्ध नहीं बताया गया है, किन्तु अग्निपुराण में इन चारों को एक पृथक् वर्ग में—'सम' नामक एक शब्दार्थ-उभयालङ्कार की सज्ञा बता कर, उस सम के छः भेदों में एक अभिव्यक्ति नामक भेद और अभिव्यक्ति का एक आक्षेप ध्वनि भेद बता कर, उस आक्षेप ध्वनि के अन्तर्गत इन चारों अलंकारों को दिखाया है। काव्यादर्श में इस शैली की गंध भी नहीं उपलब्ध होती है। ऐसी परिस्थिति में काव्यादर्श का अग्निपुराण में समावेश

किया जाना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। फिर, काव्यादर्श में उपमा के बत्तीस उपभेद दिखाये गये हैं किन्तु अग्निपुराण में केवल बाईस, और उन बाईस में भी तेरह के नामों में ही[1] समानता है। पांच ऐसे हैं जिनको परिभाषाओं में कुछ साम्य होने पर भी नाम भिन्न हैं[2]। और चार[3] ऐसे हैं जिनका काव्यादर्श में नामोल्लेख ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि काव्यादर्श और अग्निपुराण में महान असमानता है।

(ग) अग्निपुराण में अलङ्कारों की अल्प संख्या जो श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से कुछ ही अधिक है, और उनका साधारणतया निरूपण किया जाना हमको विकासोन्मुख प्रगतिशील अलङ्कार शास्त्र की दूसरी सोपान के रूप में दृष्टिगत होता है।

---

[1] १ धर्मोपमा, २ वस्तूपमा, ३ नियमोपमा, ४ अनियमोपमा, ५ बहूपमा, ६ समुच्चयोपमा, ७ मालोपमा, ८ विक्रियोपमा, ९ अद्भुतोपमा, १० मोहोपमा, ११ संशयोपमा, १२ प्रशंसोपमा और १३ निंदोपमा।

[2] काव्यादर्श में—१ अन्योन्योपमा, २ विपर्यासोपमा, ३ निर्णयोपमा, ४ अतिशयोपमा, ५ समानोपमा है। अग्निपुराण में इनके स्थान में, १ परस्परोपमा, २ विपरीतोपमा, ३ निश्चयोपमा, ४ साधारणी अतिशायिनि, सदृशी यह नाम हैं।

[3] १ व्यतिरेकोपमा, २ गमनोपमा, ३ कल्पितोपमा और किंचित सदृशी ये अग्निपुराण में हैं, किन्तु काव्यादर्श में नहीं।

यदि यह कहा जाय कि अग्निपुराण में अलङ्कार विषय का संक्षिप्त वर्णन है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके द्वारा यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि इसमें काव्यादर्श का संक्षिप्त समावेश किया गया है। यदि यह मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि अग्निपुराण का लक्ष्य काव्यादर्श का विषय संक्षिप्त में समावेश करने का ही होता, तो उपमा के इतने अधिक उपभेद, जो कि २२ दिखाये गये हैं, दिखाने की ऐसी क्या आवश्यकता थी और अग्नि-पुराण में काव्यादर्श के उन प्रधान अलङ्कारों को—क्यों छोड़ दिया जाता—यहां तक कि उनका नामोल्लेख भी नहीं किया गया है, जो कि उपभेदों की अपेक्षा अत्यंत आवश्यक थे। यह कदापि सम्भव नहीं कि जिस ग्रन्थ का विषय लिया जाय उसका आवश्यक प्रधान विषय छोड़ कर अनावश्यक गौण विषय ले लिया जाय। विशेष ध्यान देने योग्य तो यह है कि जिस श्लेषालङ्कार को दंडी ने—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

—काव्यादर्श २।३६३

इतना महत्त्व दिया है, उस श्लेष का अग्निपुराण में नामोल्लेख भी नहीं है। क्या यह सम्भव है कि जिस ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाय—प्रकरण ही क्यों परिभाषा तक ली जाय, उसमें जिस अलङ्कार को ऐसा महत्त्व दिया गया है,

उसका नाम तक स्मरण न किया जाय, और उसी ग्रन्थ से उपमा के उपभेद जो अधिक महत्त्व के नहीं, इतने अधिक ले लिये जायँ ?

(घ) अच्छा, और देखिये, अग्निपुराण में किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं दिया गया है—केवल परिभाषाएं हैं, किन्तु ज्ञापक हेतु के विषय में कहा है—'ज्ञापकाख्यस्य भेदोस्ति नदीपूरादि दर्शनम्।' किन्तु काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार पच्चीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है, उनमें ज्ञापक हेतु भी कहा गया है, पर 'नदीपूरादिदर्शनम्' के समान तो कहां, इसकी गंध भी उनमें कहीं उपलब्ध नहीं है।

(ङ) एक बात और भी है, काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार के साथ ही जुड़े हुए 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलङ्कार कहे गये हैं—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।

—२।२३५

यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि अग्निपुराण में कुछ परिभाषाएँ काव्यादर्श के समान पाई जाने से वे परिभाषाएँ श्री काणे जब काव्यादर्श से ली हुई बताते हैं, तो प्रश्न होता है कि यदि वस्तुतः ऐसा होता तो हेतु के संलग्न 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलङ्कार अग्निपुराण में क्यों नहीं लिये जाते ? 'हेतु' ही में ऐसा क्या चमत्कार है जिससे सूक्ष्म और लेश को छोड़ कर केवल हेतु ही लिखा जाता। और यह हेतु वह अलङ्कार है जिसमें भामह और मम्मट जैसे प्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने अलङ्कारत्व ही स्वीकार नहीं किया है।

(च) 'समाधि' की परिभाषा में अग्निपुराण और काव्यादर्श दोनों के नामों में सादृश्य अवश्य है, किन्तु वह भी असादृश्य ही है, अग्निपुराण में 'समाधि' का 'सम' के भेद अभिव्यक्ति के अन्तर्गत उल्लेख है, जब कि काव्यादर्श में इसे दश गुणों में एक गुण बताया गया है।

(छ) केवल अलङ्कारों के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य प्रकरणों में भी काव्यादर्श से अग्निपुराण में विभिन्नता है। 'गुण' प्रकरण देखिये, अग्निपुराण में शब्दगत सात गुण माने गये हैं :—

श्लेषो लालित्यगांभीर्यसौकुमारमुदारता।
सत्येवयौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

—३४६।५

और अर्थगत छः गुण माने गये हैं :—

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिसामयिकत्वं च तद्भेदाः षडुदाहृताः॥

—३४६।११

और शब्दार्थ उभयगत भी छः गुण माने गये हैं :—

तस्यप्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः॥

—३४६।१८-१९

किन्तु दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के ही दश गुण बतलाये हैं :—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।

—काव्यादर्श १।४१-४२

और गुणों के विषय में शब्दार्थ-गत भेद प्रदर्शित नहीं किया है। इसी प्रकार अग्निपुराण में वक्तृ, वाचक और वाच्य तीन दोष कहे गये हैं जो कि दंडी के दोष निरूपण से सर्वथा विलक्षण हैं। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि अग्निपुराण में काव्यादर्श का समावेश किया जाता तो ऐसा होना कदापि सम्भव न था।

(ज) अब हम श्री काणे के मत की उस मूलाधार भित्ति की अत्यन्त निर्बलता दिखाते हैं जिस पर उन्होंने अपने इस कल्पना-जाल का निर्माण किया है। काव्यादर्श में—

(१) लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

—२।२२६

(२) अद्यया मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥

—२।२७६

यह दो पद्य हैं। श्री काणे कहते हैं कि इन दोनों के सिवा उदाहरण या परिभाषा कुछ भी दडी ने दूसरे ग्रन्थों से नहीं ली हैं। और जब दडी ने इन दो पद्यों के सिवा

दूसरे ग्रन्थों से कुछ लिया ही नहीं तो, फिर काव्यादर्श की कुछ कारिकाएं जो अक्षरशः अग्निपुराण में हैं, वे काव्यादर्श के सिवा किसकी मानी जा सकती हैं ? बस, श्री काणे की, यही कल्पना अग्निपुराण में काव्यादर्श का समावेश किये जाने की जीवनधार है।

अच्छा, प्रथम तो यही प्रश्न होता है कि दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा अन्यत्र से कुछ भी नहीं लिया, इसका प्रमाण ही क्या ? दंडी ने तो इन दो पद्यों के सम्बन्ध में भी कहीं ऐसा सूचित नहीं किया है कि ये अन्यत्र से लिये गये हैं। पर इन दोनों पद्यों को श्री काणे अगत्या इसलिये अन्यत्र के स्वीकार करते हैं कि प्रथम पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावली में १८९० की संख्या पर विक्रमादित्य के नाम से तथैव शारंगधरपद्धति में संख्या १०३ पर भर्तृमेंखक के नाम से एवं भास के 'चारूदत्त' (१।१९) और 'बाल-चरित' (१।१५) में भी मिलता है। और शूद्रक के मृच्छकटिक के प्रथमाङ्क में भी। इसी प्रकार दूसरा पद्य भामह के 'काव्यालङ्कार' में (३।५) मिलता है। यदि इन दोनों पद्यों का पता इन ग्रन्थों में न मिलता तो सम्भवतः श्री काणे यही मान लेते कि दंडी ने कुछ भी अन्यत्र से नहीं लिया। किंतु दंडी ने काव्यादर्श में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि मैंने स्वयं प्रणीत उदाहरण या परिभाषाएं दी हैं। प्रत्युत काव्यादर्श की सम्पूर्ण रचना मौलिक होने के विरुद्ध और भी प्रमाण मिलते हैं। काव्यादर्श के 'लक्ष्यलक्ष्मी तनोतीति प्रतीति सुभगंवचः' इस वाक्य में स्पष्टतया महाकवि कालि-

दास के 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्यलक्ष्मीं तनोति'। इस पद्य का— 'लक्ष्यलक्ष्मीं तनोति' यह वाक्य लिया गया है। इसके सिवा अन्य भी एक दो नहीं दस कारिकाएं और कारिकाओं के अर्द्धांश ऐसे हैं, जो भामह के काव्यालङ्कार से अक्षरशः समान हैं। और जहां तक विचार किया जाता है, वे सम्भवतः भामह से ही दंडी द्वारा लिये गये प्रतीत होते हैं—जैसा कि हम आगे भामह के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। इसकी पुष्टि काव्यादर्श द्वारा भी होती है, दंडी ने ग्रन्थारंभ में स्वयं स्पष्ट लिखा है कि—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।

—१।२

इसके सिवा काव्यादर्श में और भी ऐसे बहुत से वाक्य हैं, जिनमें दंडी ने स्वय अन्य ग्रन्थों से सहायता लिये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। यही नहीं प्रत्युत दंडी के उपर्युक्त उद्धरण के 'पूर्व शास्त्राणि' इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि उसने स्वयं, सम्भवतः अग्निपुराण से, कुछ सहायता ली है, क्योंकि दडी ने स्वयं 'शास्त्र' को काव्य से पृथक् माना है, जैसा कि उसने स्वभावोक्ति अलङ्कार के विषय में कहा है—

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥

—२।१३

अतएव हम 'शास्त्रेषु' के प्रयोग द्वारा अग्निपुराण का निर्देश क्यों नहीं मान सकते ? दंडी की यह कारिका भी अग्निपुराण के—

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषुनिष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥

—३३७।२-३

इस श्लोक पर अवलम्बित है। यही क्यों दंडी ने अग्निपुराण से कुछ अलङ्कारों की परिभाषाओं के अतिरिक्त और भी अनेक वाक्य लिये हैं, जैसे—

'कन्याहरण संग्राम विप्रलंभो' । अग्निपु० ३३७।१३, काव्या० १।२९
'सर्गबन्धो महाकाव्यं' । अग्निपु० ३३७।२४, काव्या० १।१४

इत्यादि। और दंडी ने काव्य का लक्षण भी काव्यादर्श में वहीं से लिया जान पड़ता है, देखिये :—

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली' ।

—अग्नि० ३३७।६

दंडी ने इसमें 'संक्षेपाद्' वाक्य निकाल कर—'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्नापदावली (काव्यादर्श १।१०) इस प्रकार काव्य का लक्षण लिख दिया है। काव्य के विभाग अग्निपुराण में—'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्' (३३७।८) इस प्रकार है। दंडी भी—'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्' (काव्यादर्श १।११) इसी प्रकार बताता है। निष्कर्ष यह है कि किसी अंश में भी

यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ लिया गया है। अतएव पूर्वोद्धृत (पृ० ७७) जो अग्निपुराण (३३७।२१,२३) और काव्यादर्श (१।११, १।१२) में समानता है, और जिसे श्री काणे अग्निपुराण में काव्यादर्श से ली हुई कल्पना करते हैं, वह भी अग्निपुराण से ही काव्यादर्श में ली हुई सिद्ध होती है।

(ङ) श्री काणे ने अग्निपुराण के समय की कल्पना की पुष्टि में एक आधार यह भी माना है कि रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त और समासोक्ति की परिभाषाएं अग्निपुराण में भामह के काव्यालङ्कार से ली गई हैं। क्योंकि भामह ने जो परिभाषाएं २।२१, २।६८, २।७९, ३।८ में दी हैं, वे अग्निपुराण ३४४।२२, ३४५।१५, ३४५।१६, ३४५।१८ में क्रमशः मिलती हैं। और भामह ने लिखा है कि परिभाषा और उदाहरण मैंने स्वयं निर्माण किये हैं—

स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं
मयाप्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः।

—२।९६

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः'।

—काव्यालं० ३।५८

श्री काणे ने इस पर कल्पना की है कि जब कि भामह का समय लगभग छठी सातवीं शताब्दी का है तो अग्निपुराण उसके पीछे

का सिद्ध होता है। किंतु सखेद आश्चर्य है कि श्री काणे अग्नि-पुराण को भामह से परवर्ती सिद्ध करने के लिये भामह के उपर्युक्त इन दोनों पद्यों को प्रमाण स्वरूप मानते हुए यह बात क्यों भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं भामह संबंधीय विवेचना में[1] भामह द्वारा अन्य साहित्याचार्यों के नामोल्लेख और उनके उदाहरण आदि काव्यालङ्कार में प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण, इन्हीं उपर्युक्त दोनों पद्यों को सशयात्मक माना है। ऐसी परिस्थिति में हम किस आधार पर स्वीकार कर सकते हैं कि भामह ने अपने ग्रन्थ में परिभाषाएं स्वय निर्माण की हैं और अग्निपुराण में भामह से ली गई हैं? फिर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि अग्निपुराण में दिए हुए सभी अलङ्कार दंडी के काव्यादर्श में भी हैं, अग्निपुराण में यदि अन्य किसी ग्रन्थ से यह प्रकरण लिया जाता तो उसके लिये काव्यादर्श ही पर्याप्त था, भामह के ग्रन्थ से लेने की आवश्यकता तो उसी अवस्था में हो सकती थी जब कि वे काव्यादर्श में न होते। फिर यदि अग्निपुराण में भामह के ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाता तो जिस अतिशयोक्ति के विषय में भामह ने—

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना" ॥

—काव्यालङ्कार २।८५

---

१ 'Therefore too much emphasis cannot be laid over the words स्वयं कृतैरेव etc,' —'साहित्यदर्पण' भूमिका पृ० १८-१६।

यह कह कर इतना महत्त्व दिया है, उसका अग्निपुराण में नामोल्लेख भी न किया जाना क्या संभव हो सकता है ? कदापि नहीं। फिर काव्यादर्शोक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश भामह ने नहीं माने, प्रत्युत उसने इनका खण्डन किया है। तब क्या कारण है कि इन तीनों में से 'हेतु' अग्निपुराण में लिखा गया। यदि भामह अथवा दंडी दोनों में से किसी का भी अनुसरण अग्निपुराण में किया जाता तो या तो दंडी के मतानुसार यह तीनों ही लिखे जाते, या भामह के मतानुसार तीनों ही छोड़ दिये जाते, अतएव दंडी और भामह दोनों में किसी का भी समावेश अग्निपुराण में किया जाना किसी प्रकार भी संभव नहीं। किंतु अग्निपुराण में कुछ परिभाषाओं में दंडी और भामह की समानता एवं अन्य असमानता उपलब्ध होने के कारण हम कह सकते हैं, कि या तो अग्निपुराण की परिभाषायें दंडी और भामह को जो अपने मनोनुकूल उपलब्ध हुईं वे संभवतः वहाँ से उन्होंने ले लीं और जो उनको परिवर्तनीय प्रतीत हुईं उनके स्थान पर नवीन परिभाषाएं निर्माण कर दीं। या यह भी संभव है कि नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् किसी अज्ञात लेखक द्वारा कोई अलङ्कार ग्रन्थ लिखा गया हो—ऐसे लेखक द्वारा जिस ने अपने पूर्ववर्ती अग्निपुराण की कुछ परिभाषाएं भी अपने ग्रन्थ में समावेश की हों सभवतः वही ग्रन्थ भामह और दंडी के ग्रन्थों का श्रोत हो।

(ब) श्री काणे ने एक और भी अभूतपूर्व कल्पना प्रसूत की है कि "ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धांत से भी अग्निपुराण अभिज्ञ था। अग्निपुराण मे कहा गया है कि पर्यायोक्त, अपन्हुति, समा-

सोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप में ध्वनि समा-
वेशित है—

स अक्षिप्तो ध्वनिःस्याच्च ध्वनिना व्यज्जते यतः।

—अग्निपु० अ० ३४५।१४

पर ध्वन्यालोक का अनुयायी होना अग्निपुराण को अभीष्ट न था, अग्निपुराण का यह उल्लेख ध्वनिकार के विषय में वैसा ही है, जैसा कि रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में भामह उद्भटादि का मत दिखाया है।" किंतु श्री काणे की यह कल्पना तो नितांत ही हास्यास्पद है, क्योंकि रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में जो भामह उद्भटादि के मत का उल्लेख किया है उसे अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ को उपस्कारक मानते हुए अपने निकाले हुए—'अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः।' इस सिद्धांत की पुष्टि में किया है। किंतु अग्निपुराण का वर्णन तो इसके सर्वथा विरुद्ध है। न तो वहाँ कोई अपने मत के सिद्धांत का प्रतिपादन ही किया गया है और न वहाँ किसी के मत की आलोचना ही की गई है और न किसी का समर्थन ही किया गया है, किंतु वहाँ तो केवल अलङ्कारों का साधारणतया निरूपण किया गया है। और वह निरूपण एक विलक्षण प्रकार से है—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। अतएव अग्निपुराण के वर्णन के साथ किसी भी प्रकार 'अलङ्कारसर्वस्व' के अवतरण की तुलना नहीं हो सकती। और न यही सिद्ध हो सकता कि अग्निपुराणकार, ध्वन्यालोक से परिचित थे। किंतु इसके विपरीत पूर्ण रूप से यह सिद्ध होता

है कि अग्निपुराण के मत से ध्वनिकार केवल अभिज्ञ ही न थे, किंतु ध्वनिकार ने अग्निपुराण के मत के विरुद्ध पर्याप्त आलोचना भी की है क्योंकि अग्निपुराण का जो 'स्वरूपमथ' इत्यादि श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, उस में आठ अलङ्कारों की गणना है—जिन में अंतिम आठवां भेद 'सम' है, और सम को एक शब्दार्थ उभयालङ्कार माना है (न कि 'सम' नाम का एक अर्थालङ्कार जैसा कि काव्यप्रकाशादि ग्रन्थों में माना गया है) और उसके छः भेदों में अंतिम भेद अभिव्यक्ति के दो उपभेद श्रुति और आक्षेप कहे गए हैं—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप। इत्यादि

—३४५।७

और आक्षेप की यह परिभाषा दी गई है—

श्रुतेरलभ्यमानोर्थो यस्माद्भाति सचेतनः।
स आक्षेपो ध्वनिस्याच्चध्वनिना व्यज्यते यतः॥

—३४५।१४

अर्थात् श्रुति से अलभ्यमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) जिसके द्वारा भान हो, वह आक्षेप ध्वनि है। ऐसा कह कर, फिर इस ध्वनि के अन्तर्गत आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त यह चार भेद माने गए हैं। फिर अन्त में कहा है कि—एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः ३४५।१८—अर्थात् यह सम संज्ञक ध्वनि है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि अग्निपुराण में आक्षेप, समासोक्ति, अपन्हुति और पर्यायोक्त ध्वनि के भेद माने गए हैं। किन्तु ध्वन्या-

लोक में इस मत के विरुद्ध पृ० ३५ से ४५ तक विस्तृत आलोचना करने के बाद निष्कर्ष रूप यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटः ॥
—१।१४

अर्थात् समासोक्ति आदि जो अग्निपुराण में आक्षेप ध्वनि के भेद माने गये हैं, उसके विरुद्ध ध्वनिकार ने इनमें अलंकारता प्रतिपादन की है—इन अलंकारों में व्यंग्यार्थ की (जो ध्वनि का विषय है) गौणता और वाच्यार्थ की प्रधानता प्रतिपादन की है। ध्वन्यालोक और अग्निपुराण का यह प्रकरण ध्यान देकर देखने से स्पष्ट विदित हो सकता है कि ध्वनिकार, अग्निपुराण के मत के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से या अग्निपुराण के मतानुसार प्रणीत किसी अन्य अचार्य के अज्ञात ग्रन्थ के विरुद्ध अपना मत स्थापन कर रहा है। ध्वनिकार केवल अग्निपुराण से परिचित ही नहीं थे किंतु ध्वन्यालोक के (तृतीय उद्योत पृ० २२२) वृत्ति ग्रन्थ में—

तथा चेदमुच्यते—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
सएव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्" ॥

यह दोनों श्लोक अग्निपुराण से (अध्याय-३३९। १०, ११) उद्धृत किये गये हैं। यह पद्य श्रीमदानंदवर्द्धनाचार्य के स्वयं प्रणीत नहीं

हो सकते क्योंकि इनके प्रारम्भ में—'तथा चेदमुच्यते' से स्पष्ट है कि वृत्तिकार ने इन पद्यों को अपने मत के समर्थन में अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। आश्चर्य होता है कि फिर भी श्री काणे अग्नि-पुराण को ध्वन्यालोक से परवर्ती कहने का किस आधार पर साहस कर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि, एस्० के० दे बाबू (जिनके ग्रन्थ पर श्री काणे का निबन्ध अधिकांश में अवलंबित है) ध्वन्यालोक से अग्निपुराण को प्राचीन स्वीकार करते हैं। अतएव इसे श्री काणे के दुराग्रह के सिवा और क्या कह सकते हैं।

अग्निपुराण के काव्य-प्रकरण का अध्ययन ध्यान देकर करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि, वह वर्णन भामह, दंडी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है। और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर नाट्य-शास्त्र के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है। इस विषय के प्रारम्भ में अग्निपुराण में कहा है—

काव्यस्य नाटकादेश्च अलङ्कारान्वदाम्यथ।

—३३७।१

इसमें अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक सौंदर्य के अर्थ में किया गया है—जैसा कि नाट्य-शास्त्र में दृष्टिगत होता है। रस भी अग्निपुराण में शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स यही चार मुख्य माने गये हैं—शेष चारों का इन्हीं के द्वारा उद्भव कहा गया है, जैसा कि महामुनि भरत का प्राचीन मत है। आश्चर्य यह है कि फिर भी

पाश्चात्य और कुछ एतद्देशीय विद्वान्, नितांत निर्बल और संदेहात्मक आधारों पर अग्निपुराण को ईस्वी सन् ९०० के समय का कल्पना करते हैं, और यह भी कहते हैं कि अग्निपुराण का उल्लेख केवल साहित्यदर्पण में विश्वनाथ द्वारा (लगभग १४ वीं शताब्दी में) किया गया है—इसके प्रथम किसी भी आचार्य ने नहीं किया, किंतु ऊपर के विवेचन से भली प्रकार सिद्ध होता है कि भामह, दंडी और ध्वनिकार आदि प्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों द्वारा अग्निपुराण के विषय का उपयोग पर्याप्त किया गया है। ध्वन्यालोक के लोचन व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी—जो संभवतः वाग्देवावतार श्री मम्मटाचार्य के उपाध्याय थे अग्निपुराण के—

अभिधेयेन सारूप्यात्सामीप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगलक्षणा पञ्चधा मता॥

—अग्निपु० ३४५।११, १२

इस श्लोक को ध्वन्यालोकलोचन पृ० ९ में उद्धृत किया है। यही क्यों, महाराजा भोज जैसे विद्या-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ने अग्निपुराण में संक्षिप्त निरूपित साहित्य विषय को अपने सरस्वती-कंठाभरण नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में विस्तार के साथ उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। सच तो यह है कि अग्निपुराण में वर्णित विषय एक प्रकार से सूत्र रूप में है, उसकी व्याख्या यदि सरस्वतीकठाभरण में स्पष्ट रूप से विस्तृत न की जाती तो वह विषय समझना एक बड़ी

विकट समस्या हो जाती। महाराजा भोज को अग्निपुराण का विषय सरस्वतीकंठाभरण में स्पष्ट करने पर भी यथेष्ट संतोष नहीं हुआ अतएव उन्होंने एक तीस हज़ार श्लोकों का बृहत् ग्रन्थ—'शृङ्गारप्रकाश' नामक अग्निपुराण के मतानुसार और भी लिखा जो अभी उपलब्ध हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रति गवर्नमेंट ओरियंटल मैनुस्क्रप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में वर्तमान है। यह ग्रन्थ छत्तीस प्रकाशों में समाप्त है[१]। अब यदि अग्निपुराण का समय नवम शताब्दी का कल्पना कर लिया जाय तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि उसके १०० या १२५ वर्ष के बाद ही इतने अल्पकाल में—भोजराज के समय में—वह ऐसा गौरवान्वित और प्रतिष्ठित पौराणिक आर्ष-ग्रन्थ समझ लिया जाता? इस बात का हमारे विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

महाभारत काल

पौराणिक काल के बाद ईसवी सन् के प्रारम्भ तक यद्यपि कोई साहित्यक काव्य-रीति-निरूपक ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता है। पर श्री पाणिनि के व्याकरण द्वारा विदित होता है कि उनके पूर्व, काव्य

---

१ शृङ्गारप्रकाश के २२, २३, २४ संख्या के प्रकाश मद्रास ला प्रिंटिंग हाउस में मुद्रित भी हो गये हैं।

के पारिभाषिक शब्द-उपमा,[1] उपमान, उपमेय पूर्णतया प्रचलित हो गये थे। और उसमें नट[2] सूत्रों का भी उल्लेख है। वार्तिककार कात्यायन के अनुसार पता चलता है कि उस समय काव्य और आख्यायिकाओं में भेद माना जाने लगा था। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में भी एक महाकाव्य[3] और तीन आख्यायिकाओं[4] का और दो नाटकों[5] का उल्लेख है। और ईसवी सन् के पूर्व दो या तीन शताब्दियों से ईसवी सन् २०० तक हमको भास, कालिदास, अश्वघोष और सुबन्धु आदि के काव्य और नाट्य ग्रन्थ एवं रुद्रदामन आदि के शिलालेख तथा दानपत्र उपलब्ध होते हैं। जिनके द्वारा केवल यही विदित हो सकता है कि उस समय नियम-बद्ध और परिमार्जित काव्य-रचना का पर्याप्त प्रचार हो गया था। किन्तु ऐसे ग्रन्थ जिनमें रस, अलङ्कार आदि के लक्षण निरूपित हों और जो हमें तत्कालिक काव्य विषय के क्रम-विकास पर विवेचन करने में सहायक

१ देखो अष्टाध्यायी २।१, ५५, ५६, और २।३-७२

२ 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' ४।३-११०

३ 'यत्तेन कृतं नच तेन प्रोक्तं वाररुचं काव्यम्' (महाभाष्य पु० ३ पृ० ३१५)

४ वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी (महाभाष्य पु० २ पृ० ३१३)

५ 'ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कृष्णं घातयन्ति प्रत्यक्षं च वलि बन्धायन्तीति' (महाभाष्य पु० २ पृ० ४६४, ४७०)।

हों, अग्निपुराण के बाद और ईसवी सन् के प्रारम्भ तक अनुपलब्ध हैं। तथापि यह तो अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि ऐसे ग्रन्थों का अस्तित्व उस समय में अवश्य था। क्योंकि आचार्य भामह जो लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में अलङ्कार-शास्त्र के प्रथम और प्रधानाचार्य के रूप में हमको उपलब्ध होता है, उसके 'काव्यालङ्कार' की कारिकाओं में[१] किये गये 'परे' अन्यैः 'कैश्चित्', 'केचित्' 'केषाचित्', 'अपरे' रामशर्मा, अच्युत, मेधाविन् और राजमित्र इत्यादि प्रयोगों द्वारा स्पष्ट है कि भामह के प्रथम अनेक विद्वानों द्वारा ऐसे ग्रन्थ लिखे गये थे, जिनमें काव्य-रचना के नियम निरूपण किये गये थे। उपर्युक्त कारिकाओं में जिनके स्पष्ट नामोल्लेख हैं, उनमें एक मेधाविन् का ही ऐसा नाम मिलता है, जिसके विषय में हमको कुछ लिखने के लिये अन्य साधन भी प्राप्त हैं।
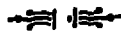
मेधाविन्

मेधाविन् या मेधावी के सम्बन्ध में भामह के काव्यालङ्कार में दो बार उल्लेख किया गया है (का० ल० २।४० और २।८८) भामह के अतिरिक्त मेधावी का अलङ्कार-शास्त्र के प्रणेता के रूप में

१ यह कारिकाएँ भामह के प्रकरण में आगे लिखी जांयगी।

नामोल्लेख रुद्रट के काव्यालङ्कार की नमि साधु कृत टीका में भी मिलता है—

'ननुदण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि'।

—(रुद्रट का० लं० टीका १।२ पृ० २)

'तैर्मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः'।

—(रुद्रट का० लं० टी० २।२ पृ० ९)

'मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं'।

—(रुद्रट का० लं० टी० ११।२४ पृ० १४५)

इन वाक्यों में यद्यपि मेधाविरुद्र का नामोल्लेख है, किन्तु सम्भवतः मेधाविरुद्र और मेधावी एक ही व्यक्ति है। क्योंकि 'रुद्र' एक विशेष सम्बन्ध-सूचक उपाधि है। शार्ङ्गधर ने कपिलरुद्र और मालवरुद्र के भी पद्य उद्धृत किये हैं। राजशेखर की काव्य-मीमांसा में भी (पृ० १२) मेधाविरुद्र का नामोल्लेख है। अस्तु, मेधावि अलङ्कार-शास्त्र का एक प्राचीन लेखक अवश्य था और वह भामह के पूर्ववर्ती था, इससे अधिक इसके समय और ग्रन्थ के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सकता है।

भट्टि

भट्टि का 'भट्टि-काव्य' या रावण-वध काव्य मुद्रित हो गया है। उसमें श्री रामचरित्र का वर्णन है। यद्यपि वह काव्य-लक्षण-निरूपक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, तथापि २२ सर्गात्मक इस ग्रन्थ के तीसरे

प्रसन्न नामक काण्ड के १० से १३ तक चार सर्गों में काव्य विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। १० वें सर्ग में ३८ अलङ्कारों के उदाहरण मात्र हैं—लक्षण नहीं। इसी प्रकार ११ वें सर्ग में माधुर्य गुण का, १२ वें सर्ग में भाविक अलङ्कार का और १३ वें सर्ग में भाषासम का निदर्शन मात्र है। अतएव इस वर्णन द्वारा भट्टि को ऐसे समय में, जबकि उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, साहित्याचार्यों के इतिहास में स्थान दिया जाना आवश्यक है।

भट्टि और भामह

भट्टि ने जिन अलङ्कारों के उदाहरण दिखलाये हैं, भामह के काव्यालङ्कार में प्रायः वे ही अलङ्कार निरूपित हैं। और उनका पूर्वापर क्रम भी प्रायः दोनों में समान है। दीपक, रूपक, अर्थान्तर-न्यास, आक्षेप, तुल्ययोगिता और विरोध एवं कुछ अन्य अलङ्कारों के पूर्वापर क्रम में भिन्नता है। इसके सिवा भट्टि, हेतु, वार्ता और निपुण के उदाहरण दिखाता है और प्रतिवस्तूपमा को नहीं दिखाता, जबकि भामह हेतु में तो अलङ्कारत्व ही नहीं मानता है और वार्ता, एवं निपुण के विषय में सर्वथा मौन है और प्रतिवस्तूपमा को उपमा के उपभेदों में लिखता है। भट्टि 'उदार' अलङ्कार लिखता है और भामह उदात्त। यद्यपि दण्डी के काव्यादर्श के बहुत से अलङ्कारों के क्रम में भी भट्टि से समता है, पर भामह की अपेक्षा भट्टि की दण्डी के साथ अधिक भिन्नता है। दण्डी ने उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सन्देह, अनन्वय और उत्प्रेक्षावयव की उपमा के भेदों में गणना की

है, जबकि भट्टि ने इन अलङ्कारों को पृथक् पृथक् दिखलाया है। भट्टि ने यमक कुछ विस्तार के साथ लिखा है, वह दण्डी के निरूपण से न्यून होने पर भी समता-सूचक है। जिस 'भाविक' अलङ्कार को भामह और दण्डी दोनों ने—'भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्ध विषयं गुणम्'। ऐसा कह कर प्रबन्ध का विषय बताया है, भट्टि के काव्य में उसका १२ वें सर्ग के ८७ पद्यों में—प्रबन्ध रूप में निदर्शन कराया गया है, तथापि भट्टि के अलङ्कार-निदर्शन द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि वह स्वतंत्र प्रतिपादन है अर्थात् उसका विषय-क्रम, भामह और दण्डी दोनों ही से भिन्न प्रतीत होता है। अस्तु।

भट्टि और भामह इन दोनों में पूर्ववर्ती कौन है? इस विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ विवेचन किया है, फिर भी वे इस विषय में कोई दृढ़ मत स्थिर नहीं कर सके हैं। भामह के काव्यालङ्कार के—

"काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्'
उत्सवस्सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।"

—काव्यालङ्कार परिच्छेद २।३०

इस श्लोक के साथ भट्टि के रावणबध काव्य के—

"व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम्'
हता दुर्मेधसश्चास्मिन्विद्वत्प्रियचिकीर्षया।"

—भट्टिकाव्य सर्ग १२।३४

इस श्लोक में केवल रेखाङ्कित शब्द-साम्य ही नहीं, किन्तु ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट विदित होता है कि इन दोनों श्लोकों में एक के द्वारा दूसरे की स्पष्ट रूप में आलोचना भी की गई है। विदित तो यह होता है कि भामह ने अपने ग्रन्थ में जिस व्याख्यागम्य (क्लिष्ट) काव्य की रचना को अनादृत माना है, भट्टि ने अपने ग्रन्थ में उस व्याख्यागम्य काव्य के विषय में भामह के मत की अवहेलना करते हुए ग्रन्थान्त में यह श्लोक लिखा है। किन्तु इसके विरुद्ध कुछ विद्वान् लेखकों का मत है कि भट्टि द्वारा अपनी ग्रन्थ-रचना-शैली की पुष्टि में लिखे हुए इस मत से भामह सहमत न हो कर भामह ने ही भट्टि की आलोचना की है। इसीलिये भामह और भट्टि के पूर्वापर का विषय सदिग्ध माना जाता है। किन्तु हमारे विचार में तो भट्टि द्वारा भामह के मत की अवहेलना किया जाना ही सभव प्रतीत होता है। क्योंकि भामह ने यह श्लोक यमक और प्रहेलिका अलङ्कार दिखाकर ऐसे क्लिष्ट काव्य को अनभीष्ट बताते हुए केवल साधारणतया अपना मत प्रदर्शित किया है। किन्तु भट्टि ने जो भामह के 'उत्सवस्सुधियामेव' के स्थान पर 'उत्सवस्सुधियामलम्' लिखा है इसमें 'एव' के स्थान पर भट्टि ने 'अलम्' का प्रयोग किया है। भामह 'एव' के प्रयोग द्वारा व्याख्यागम्य काव्य को केवल विद्वानों के लिये आनन्द-प्रद और अल्प-मतिवालों के लिये दुर्बोध बतला कर क्लिष्ट काव्य को अनादृत मानता है। इसके विरुद्ध भट्टि कहता है कि—'विद्वत्प्रियचिकीर्षया' मैंने अपना काव्य विद्वानों के लिये ही जानबूझ कर व्याख्यागम्य (क्लिष्ट) बनाया है क्योंकि इस काव्य का

विद्वानों को आनन्द-प्रद होना ही मेरे लिये 'अलम्'—पर्याप्त है—अल्पमति अपनी अज्ञता के कारण इस आनन्द से वञ्चित रहें तो रहें। अतएव भट्टि द्वारा प्रयुक्त 'अलम्' और—'विद्वत्प्रियचिकीर्षया' वाक्य बलात् हमें भट्टि को भामह का परवर्ती मानने के लिये बाध्य करते हैं। अस्तु, यह बात तो भट्टि के ग्रन्थ से भी निश्चित होती है कि भट्टि के पूर्व अलङ्कारों के लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ अवश्य थे और उन्हीं के अनुसार उसने अपने काव्य में अलङ्कारों का समावेश किया है। और यह भी प्रतीत होता है कि उस समय तक उन्हीं लगभग ४० अलङ्कारों से अधिक अलङ्कारों का आविष्कार नहीं हुआ था, जो कि भामह और दण्डी के समय तक मिलते हैं। और भरत के नाट्य-शास्त्र में जब हम चार, अग्निपुराण में लगभग १५ और भट्टि से भामह, दण्डी तक लगभग ४० अलङ्कारों का निरूपण देखते हैं तो यह विकास-क्रम का आधार भी इनके सम्बन्ध में समय के पूर्वापर क्रम का बोध कराता है।

भट्टि का समय

भट्टि काव्य के—

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान् नृपस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्"॥

इस अन्तिम पद से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ वलभी के धरसेन राजा के समय में लिखा गया है। बलभी काठियावाड़ में है उसे

अब 'बल' कहते हैं। वहां धरसेन नाम के चार राजाओं ने शासन किया है। उनमें किस धरसेन के राज्य-काल में भट्टि था यह निश्चित नहीं हो सका है। श्री B C मजूमदार भट्टि को मन्दसोर के सूर्य-मन्दिर के शिलालेख का लेखक बतलाते हैं, जो कि वत्सभट्टि के नाम से लिखित है। और कुछ विद्वान् भट्टि को वलभी के तीसरे धरसेन राजा का दानपात्र[१] कप के पुत्र भट्टिभट्ट से अभिन्न बतलाते हैं। डा० हुल्ट्स (Hultzsch) ने इस कल्पना का भी खण्डन किया है[२]। जो कुछ हो, वलभी के इन चारों धरसेन राजाओं का समय लगभग सन् ५०० से ६५० ई० तक है, क्योंकि दूसरे धरसेन का शासन सम्बन्धी लेख २५२ वलभी संवत्सर (५७१ ई०) का है। और इसके पिता ध्रुवसेन का दानपत्र वलभी स० २०७ अर्थात् ५२६ ई० का। प्रथम धरसेन का समय संभवतः ५०० ई० का कहा जाता है। और चौथे धरसेन का लेख वलभी सं० ३३० (सन् ६४८ या ६४९ ई०) का है, अतएव भट्टि का समय सन् ५०० से ६५० ई० तक डेढ सो वर्ष के मध्य में होना संभव है।

---

१ देखो जरनल ओफ दी रोयल एसियाटिक सोसाइटी १९०४ पृ० ३९५-९७ और १८०९ पृ० ४३५।

२ इ० पी० ग्राफिका इण्डिका पृ० १२।

भामह और उसका काव्यालङ्कार

उपलब्ध काव्य-नियम ग्रन्थों में नाट्य-शास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् अलङ्कार शास्त्र पर लिखने वाला आचार्य भामह और उसका काव्यालङ्कार ही प्रथम दृष्टिगत होता है।

भामह का परिचय

भामह के व्यक्तिगत परिचय के लिये उसके काव्यालङ्कार के—

'सुजनावगमाय भामहेन प्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्'।

(६।६४)

इस अन्तिम पद्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन प्राप्त नहीं है। और इसके द्वारा इतना ही ज्ञात हो सकता है कि वह रक्रिलगोमि का पुत्र था। रक्रिल शब्द के प्रयोग द्वारा और भामह ने ग्रन्थारम्भ के मङ्गलाचरण में 'सार्व' को प्रणाम किया है, उसके द्वारा श्री M. T नरसिंह ङ्गिर और श्री K G पाठक आदि ने इसे बौद्ध कल्पना किया है[1]। किंतु इस कल्पना का अन्य लेखकों ने खण्डन भी किया है[2]

---

१ देखो जरनल ओफ दी रोयल एसियाटिक सोसाइटी १९०५ पृ० ५३५, ५४५ और इण्डियन एंटिकायरी १९१२ पृ० २३५।

२ देखो जरनल ओफ दी रोयल एसियाटिक सोसाइटी १९०८ पृ० ५४३।

अस्तु। भामह बौद्ध था या ब्राह्मण, इसके लिये अधिक विवेचन निष्प्रयोजनीय है। यहां हमको इसके काव्यग्रन्थ और समय पर ही विचार करना आवश्यक है। भामह काश्मीरी था यह तो सभी लेखक निर्विवाद स्वीकार करते हैं।

भामह का ग्रंथ

भामह का बहुत समय तक तो केवल अन्य ग्रन्थों में नामोल्लेख ही दृष्टिगत होता था—इसका ग्रन्थ अप्राप्य था। फिर इसका काव्यालङ्कार केवल 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के परिशिष्ट में मुद्रित हुआ था। हर्ष है कि अब वह स्वतंत्र भी मूल मात्र काशी संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हो गया है। यह ग्रन्थ छः परिच्छेदों में विभक्त है—

१ प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रशंसा, काव्य-साधन, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद और काव्य के दोषों का निरूपण है।

२-३ परिच्छेदों में अनुप्रास से आशी तक ३८ अलङ्कार हैं, जिनमें ससृष्टि भी है। यदि लाटानुप्रास और प्रतिवस्तूपमा, जिनको भामह ने क्रमशः अनुप्रास और उपमा के भेदों में दिखाये हैं, पृथक् गणना किये जांय तो ४० अलङ्कारों का निरूपण है।

४-५-६ चौथे परिच्छेद में दश दोषों का, पांचवे में शेष ग्यारहवें दोष न्याय-विरोधी का, और छठे में शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षा का निरूपण है।

यह ग्रन्थ लगभग ४०० श्लोकों का एक छोटा ग्रन्थ है, किन्तु इसका महत्व इसी से अनुमान किया जा सकता है कि भामह के परवर्ती उद्भट, आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य जैसे प्रायः सभी सुप्रसिद्ध महान् साहित्याचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थ में इसके सिद्धान्तों को बड़े गौरव के साथ उद्धृत किया है। भामह को थोड़े ही समय में उसके निकट के परवर्ती विद्वद्-समाज में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी, जिसका महत्वपूर्ण प्रमाण यही है कि उद्भटाचार्य, जो काश्मीर के जयापीड़ राजा के विद्वद् परिषद के सभापति थे, और राजतरङ्गिणी में कल्हण के कथनानुसार जिनकी प्रति दिन की दक्षिणा एक लक्ष दीनार (सुवर्ण-मुद्रा) नियत थी, उन्होने भामह के काव्यालङ्कार पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्या की है, जिसका उल्लेख उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह नामक ग्रन्थ की लघुवृत्ति नामक व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० १४ भण्डारकर सस्करण) किया है। और उद्भटाचार्य ने अपने काव्यालङ्कार सारसग्रह में भामह के काव्यालङ्कार से बहुत-कुछ सामग्री भी ली है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। खेद है कि वह—भामह विवरण अप्राप्य है, यदि वह प्राप्त होता तो भामह और उसके काव्यालङ्कार के विषय में बहुत कुछ नवीन परिचय प्राप्त हो सकता था। अस्तु।

यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भ के बाद अलंकार-शास्त्र का लेखक भामह ही उपलब्ध होता है। अतएव अलंकार सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य के रूप में भामह ही हमारे सन्मुख आता है। तथापि

हम भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक या प्रथम-लेखक नहीं कह सकते, क्योंकि काव्यालंकार के—

'रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ॥'

'नाटकं द्विपदी शम्यारासकस्कन्धकादियत् ।

(१।१३)

उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः ॥'

(१।२४)

'कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदङ्किता ।'

(१।२७)

'वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यते सुधियोऽपरे ।'

(१।३१)

'अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ॥'

(२।४)

'ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।'

(२।६)

'लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।'

(२।८)

'प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ।'

(२।१९)

'यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः ।'

(२।३७)

'त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।'

(२।४०)

'दृष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम् ।'

(२।४५)

'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ।
समासातिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपराः ।'

(२।६६)

'संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ।'

(२।८८)

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते ।'

(२।९३)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती अनेक साहित्य के लेखकों का उल्लेख किया है। इसके द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जिन आचार्यों ने विभिन्न काल में जितने जितने अलकार अपने अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किये थे, उसी के अनुसार भामह ने पृथक् पृथक् वर्ग में नियत अलकारों का समावेश करके उनको दिखाये हैं। जैसे उसने 'अनुप्रासः सयमको' इत्यादि (२।४) कह कर प्रथम वर्ग मे अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा यही पांच अलकार दिखलाये हैं—'पञ्चैवान्यैरुदाहृताः' (२।४) इस वाक्य के

'पञ्चैव' पद से स्पष्ट है कि जिसके मत से यह पांच अलङ्कार दिखलाये हैं, उस आचार्य ने केवल यही पांच अलंकार निरूपण किये थे। इसके द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में जो चार अलंकार—उपमा, दीपक, रूपक और यमक दिये हैं, उसी मत के अनुसार किसी अज्ञात आचार्य के ग्रन्थ के आधार पर सभवतः भामह ने प्रथम वर्ग में इन पांचों का समावेश किया है। नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित चारों में यमक के साथ अनुप्रास और लगा दिया गया है जोकि यमक का सजातीय है, भामह ने भी 'अनुप्रासः सयमकौ' ऐसा कह कर इनका सजातीय होना सूचन किया है। फिर २।६६ में आक्षेपादि छः अलङ्कार किसी दूसरे आचार्य द्वारा निरूपित एक वर्ग में रक्खे गये हैं। इसी प्रकार २।८६, ८७ में भामह अन्य किसी आचार्य के निरूपित सूक्ष्म, लेश और वार्ता अलकारों का खण्डन करता है। केवल अलंकारों के विषय मे ही नहीं, 'रीति' प्रकरण में भी अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य की मानी हुई वैदर्भी रीति की भी वह (१।३५ में) आलोचना करता है। अलंकारों के दोषों के विषय में भी मेधावी (२।४०), राजमित्र (२।४५), शाखवर्द्धन (२।४७) और राम शर्मा का (२।५८); तथैव गुण प्रकरण में 'सुमेधसः' (२।१) केचित् (२।२) का उल्लेख है। इसके वाद—

'अत्रापि वहुवक्तव्यं जायते तत्तुनोचितम्।
गुरुभिः किं विवादेन यथा प्रक्कतमुच्यते ॥'

४।७

इस पद्य में 'गुरुभिः' एक महत्व-सूचक प्रयोग है। इसके द्वारा विदित होता है कि भामह एक ऐसे आचार्य की आलोचना भी करता है, जिसे वह अपना पूज्य मानता था। निष्कर्ष यह है कि काव्यालङ्कार द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि भामह के प्रथम काव्य के अलंकार, रीति, गुण और दोष आदि साहित्य के सभी अङ्गों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे। इसकी पुष्टि भामह के—

'इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया।
बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च'॥
५।६९

इस पद्य से भी होती है। वे ग्रन्थ यद्यपि इस समय अनुपलब्ध हैं, किन्तु उनका महत्व इसीसे प्रकट है कि भामह जैसे उत्कट विद्वान् ने उनमें से किसी के मत को मान्य किया है और किसी की आलोचना की है। इस पद्य द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का केवल अनुसरण मात्र ही नहीं किया है किन्तु संभवतः कुछ अलङ्कारों का नवाविष्कार भी किया है।

भामह ने काव्यालंकार के सिवा कोई अन्य ग्रन्थ लिखे या नहीं यह भी सन्दिग्ध है। यद्यपि अभिज्ञानशाकुन्तल की अर्थद्योतनिका नामक टीका में राघव भट्ट ने दो स्थलों पर भामह के नाम से दो पद्य उद्धृत किये हैं, किन्तु वे काव्यालङ्कार में नहीं मिलते। वृत्तरत्नाकर की टीका में नारायण भट्ट ने भी 'तदुक्तं भामहेन' कहकर उद्धरण दिये हैं। और वररुचि की सूत्र-बद्ध व्याकरण की टीका प्राकृत

प्रकाश में भी भामह के नाम से उद्धरण है। डा० पिटरसन[1] और मि० पिशल[2] भामह नाम के दो लेखक बतलाते हैं। संभव है राघव भट्ट आदि द्वारा उल्लिखित भामह, काव्यालङ्कार के प्रणेता भामह से भिन्न हों। अस्तु।

भामह का समय

भामह के काल निर्णय पर साहित्यक लेखकों में बड़ा प्रबल आन्दोलन हो रहा है। पर खेद है कि अद्यापि निश्चयात्मक कोई भी मत स्थिर नही हो सका है। प्रथम हम भामह की अन्तिम सीमा पर कुछ विचार प्रकट करते हैं—

भामह और उद्भट

उद्भट आचार्य ने भामह के काव्यालङ्कार पर भामह विवरण नामक व्याख्या ही नहीं की है किन्तु अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह में आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, रसवत्, पर्यायोक्त, अपन्हुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशसा, सहोक्ति, सन्देह, और भाविक इन अलङ्कारों की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे प्रायः अक्षरशः भामह के काव्यालङ्कार से ली हैं—कहीं कहीं ही दो चार अक्षरों का परिवर्तन किया है। अतएव उद्भट, जो काश्मीर के राजा जयापीड

---

१ देखो सुभाषितावली पृ० ७९।

२ देखो पिसल का रुद्रट पृ० ६ F।

की विद्वद् सभा का सभापति था और जिसका समय संभवतः सन् ८०० ई० के पूर्व है, उससे भामह का पूर्ववर्ती होना निर्विवाद है।

भामह और वामन

काव्यालंकार सूत्र ग्रन्थ के प्रणेता वामन भी संभवतः भामह से परिचित था। क्योंकि भामह ने उपमा की परिभाषा—

'विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा'॥

—का० लं० २।३०

यह दी है। वामन का—

'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा'।

—का०लं०सू० ४।२।१

यह सूत्र भामह के उपर्युक्त पद्य के उत्तरार्द्ध के सर्वथा समान है। फिर भामह के—'मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गुरम्' (२।२७) इस पद्यार्द्ध के एक भाग 'मानभंगुरम्' के विषय में वामन ने ५।२।३८ के सूत्र की वृत्ति में लिखा है—" 'मातङ्गं मानभंगुरम्'। इत्यादयो प्रयोगा दृश्यन्ते"। किन्तु इसके द्वारा भामह के समय-निर्णय पर उद्भट की अपेक्षा अधिक प्रकाश नही पड़ सकता, क्योंकि वामन का समय भी लगभग उद्भट के समकालीन है।

भामह और दण्डी

भामह और दण्डी इन दोनों में कौन पूर्ववर्ती है ? इस विषय में बड़ा मतभेद है। श्री नृसिंहाचार्य आयंगर—जो भामह के काव्यालंकार की हस्तलिखित प्रति को प्रथम उपलब्ध करने के यशोभागी हैं, दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती बताते हैं[1]। किन्तु प्रो० पाठक[2], S K दे[3], मि० जेकोबी तथा श्री त्रिवेदी आदि भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती बताते हैं। यद्यपि श्री पाठक भी पहिले श्री नृसिंहाचार्य से सहमत थे, पर उन्होंने पीछे अपना मत परिवर्तन कर दिया है। और श्री P. V. काणे[4] सदिग्ध रूप में दण्डी को पूर्ववर्ती मानते हैं। यद्यपि दण्डी का समय भी निर्णीत नहीं है, किन्तु यह प्रश्न यहाँ इसलिये उपस्थित होता है कि भामह और दण्डी

---

१ देखो जरनल ओफ दी रोयल एसियाटिक सोसाइटी सन् १९०५ पृ० ५३५।

२ देखो ज़रनल बोंबे ब्रांच रोयल एसियाटिक सोसाइटी पुस्तक २३ पृ० १९ और इंडियन एंक्वायरी सन् १९१२ पृ० २३६।

३ देखो दे बाबू लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ६९।

४ देखो श्री काणे के साहित्य दर्पण की अंग्रेजी भूमिका द्वितीय संस्करण पृ० २६-४०।

की बहुत सी कारिकाओं में अक्षरशः साम्य है। जैसे—

	भामह	दण्डी
१ 'सर्गबन्धो महाकाव्यं'।	१।१९	१।१४
२ 'मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयै-श्च यत्'।	१।२०	१।१७ 'भ्युदयैरपि'
३ 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलंभोदया-न्विताः'।	१।२७	१।२९ 'दयादयः'।
४ 'अद्यया मम गोविन्द जाताल्त्वयि गृहागते। कालेनैषा भवेत् प्रीति-स्तवैवागमनात्पुनः'॥	३।५	२।२७६

(यह पद्य दोनों ने ही 'प्रेय' अलङ्कार के उदाहरण में रक्खा है)

	भामह	दण्डी
५ 'भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं-गुणम्'।	३।५३	२।३६४ 'तद्भाविक'
६ 'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्। शब्दहीनं यतिभ्रष्ठं भिन्नवृत्तं विसंधि च'॥	४।१	३।१२५ 'विसंधिकं'
७ 'समुदायार्थशून्यंयत्तदपार्थकमिष्यते'।	४।८	३।१२८ 'मितीष्यते'

	भामह	दण्डी
८ 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः'।	२।८७	२।२४४
९ 'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना'।	२।६६	२।४

इन अवतरणों में समानता होने के कारण यह धारणा होना स्वाभाविक है कि इन दोनों में एक ने दूसरे के यह वाक्य लिये हैं। इन में तीसरी सख्या के अवतरण को भामह ने (१।२३ से १।२७ तक) कथा और आख्यायिका को दो भिन्न भिन्न बतलाते हुए कहा है। पर दण्डी कथा और आख्यायिका को एक ही बताता है—

'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयान्विता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः'॥
—काव्यादर्श १।२८-२९

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि यह दण्डी द्वारा भामह की आलोचना है। यद्यपि इसमें मतभेद है, किन्तु हमारे विचार में यही एक क्यों अन्य आधारों से भी इस विषय मे सहायता मिलती है, जिन पर सभवतः अन्य विद्वानों ने अधिक विवेचन नही किया है। जैसे भामह के ग्रन्थ मे जितने अलकार निरूपित हैं, वे पृथक् पृथक् वर्गों मे विभक्त हैं। और वह विभाग किसी दार्शनिक सिद्धान्त

के आधार पर अथवा अलङ्कारों के सजातीय चमत्कार पर नहीं किया गया है—जैसा कि भामह के परवर्ती रुद्रट ने औपम्य, वास्तव, विरोध और स्वभाव इन चार वर्गों में किया है। किन्तु भामह ने सभवतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में जिनका कि उसने प्रायः स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, जिस जिस आचार्य ने विभिन्न समय में जितनी संख्या के अलंकार निरूपण किये थे उन्हें एक एक वर्ग में पृथक् पृथक् रक्खे हैं। किन्तु दण्डी ने जितने अलकार निरूपण किये हैं, उनका नामोल्लेख द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में एक ही साथ करते हुए कह दिया है कि—

'किन्तु बीजविकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव प्रतिसंस्कर्तुमयमस्मत् परिश्रमः'॥
—का० द० २।२

इसमें यद्यपि दण्डी ने भी 'पूर्वाचार्यैः' के प्रयोग द्वारा अनेक आचार्यों द्वारा अलंकारों का निरूपण किया जाना बताया है, किन्तु इन दोनों की लेखन शैली के क्रम द्वारा हम कम से कम यह अनुमान कर सकते हैं, कि भामह ने जो जो अलंकार दिखाये हैं, वे उसके समय में अनेक ग्रन्थों में पृथक् पृथक् बिखरे हुए थे, उनको उसने एकत्र लिख कर प्रत्येक आचार्य के निरूपित अलकारों का पृथक् २ वर्ग में समावेश किया है जैसा कि पहिले दिखाया गया है। और उसने उनको अधिक परिष्कृत न करके या विस्तृत रूप में न दिखा कर उसी रूप में बताये हैं। अतएव यह बात भामह की प्राचीनता

की परिचायक है। किन्तु दण्डी के ग्रन्थ में अलंकारों का परिष्कार एवं भेद और उपभेदों द्वारा उनका विस्तार किया जाना प्रत्यक्ष दृष्टि-गत होता है, जैसा कि उसने स्वयं उपर्युक्त कारिका में कहा है। इसके अतिरिक्त भामह अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के निरूपित हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों की आलोचना करता हुआ, यह कहता है कि—

'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते'॥

—भा० का० लं०२।८७

और दण्डी का—

'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने'॥

—का० द० २।२४४

इस पद्य के उत्तरार्द्ध में यह कहना कि—'इस प्रकार काल, अवस्था का सूचन किया जाने में ऐसा वर्णन किया जाना भी उचित ही है'। संभवतः यह सूचन करता है कि भामह ने जिस 'हेतु' को न मान कर इस उदाहरण पर आक्षेप किया है, दण्डी ने उसी हेतु अलंकार का वही उदाहरण दिखा कर भामह के आक्षेप का समाधान किया है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रश्न होता है कि दण्डी ने अन्य किसी भी अलङ्कार के उदाहरण के विषय में ऐसा

समाधान नहीं किया, फिर इसी के विषय में वही उदाहरण दिखला कर समाधान करने की उसे क्या आवश्यकता थी? और देखिये, भामह 'वैदर्भी' और 'गौड़ी' रीति (या मार्ग) में कुछ भिन्नता स्वीकार नहीं करता, यही नहीं, उसने इन दोनों में भिन्नता मानने वालों पर बड़ा तीव्र आक्षेप भी किया है—

'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्' ॥
—भामह का० लं० १।३२

किन्तु दण्डी इसके विरुद्ध कहता है कि परस्पर में अल्प भेद रखने वाले तो काव्य-मार्ग अनेक हैं पर वैदर्भी और गौड़ी यह दो मार्ग ऐसे हैं जिनमें स्पष्ट भिन्नता है—

'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ' ॥
—का० द० १।४०

फिर दण्डी ने अपने इस मत को उदाहरण दिखला कर भी स्पष्ट किया है। वह सभवतः भामह की आलोचना है। यदि ऐसा न माना जाय तो दण्डी को इस विषय पर इतना अधिक लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? यद्यपि यह कल्पना मात्र है, पर महत्त्वपूर्ण अवश्य है।

अन्य विद्वानों ने भामह और दण्डी के विषय में और भी बहुत सी बातों पर अपने अपने मत की पुष्टि के लिये युक्तियाँ देकर विस्तृत विवेचन किया है। वह विद्वत्तापूर्ण होने पर भी असदिग्ध नही- उनके द्वारा कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकल सकता, अतएव उन पर अधिक लिख कर विस्तार करना अनावश्यक है। सक्षिप्त में यही कह सकते है कि संभवतः भामह के ग्रन्थ से दण्डी परिचित था और उसकी वह अवहेलना न कर सका। इस मत से दण्डी के प्रायः सभी टीकाकार—तरुण वाचस्पति[१], हरिनाथ[२], वादि जंघाल[३] आदि सहमत हैं। अतएव सभवतः दण्डी से भामह को पूर्ववर्ती माना जाना ही अधिकांश में उचित प्रतीत होता है।

भामह और बाण

ध्वन्यालोक के चतुर्थ परिच्छेद में एक कारिका है—

'दृष्टपूर्वा ह्यपिह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इवद्रुमाः' ॥
—ध्वन्या० ४।४, पृ० २३६

---

१ देखो काव्यादर्श पर तरुणवाचस्पति की टीका ६१,२३, २४,२९, और २।२३५,२३७,३५८ एवं ४।४।

२ देखो काव्यादर्श पर हरिनाथ की टीका १।७५

३ देखो काव्यादर्श पर वादि जंघाल की टीका १।२१,५२।

इसकी वृत्ति में स्पष्टता करते हुए बहुत उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें एक यह भी है—

> 'यथा–धरणीधारणायाधुना त्व शेषः' इत्यादौ
> शेषोहिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
> यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥
> इत्यादिषु सत्स्वपि तस्यैवार्थं शब्दशक्त्युद्भवानु-
> रणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्'।
>
> —ध्वन्यालोक पृ० २३६

इस अवतरण में–'शेषोहिमगिरि' इत्यादि पद्य भामह के काव्यालङ्कार (३।२८) में तुल्ययोगिता अलंकार के उदाहरण में दिया गया है। और इसके ऊपरवाला–'धरणीधारणा' इत्यादि, वाण के श्री हर्षचरित में है। ध्वन्यालोक के मतानुसार भामह के अर्थ को वाण ने प्रकारान्तर से कहा है। अतएव श्री आनन्दवर्धनाचार्य के इन वाक्यों द्वारा भामह का वाण से पूर्व होना निस्सन्देह सिद्ध होता है। महाकवि वाण का समय श्री हर्षवर्धन के राज्य काल में सप्तम शताब्दी है, इसके द्वारा भामह का समय ईसवी की सप्तम शताब्दी के पूर्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भट्टि के प्रकरण में पूर्वोल्लिखित भामह के "काव्यान्यापि यदीमानि"–(काव्यालंकार २।२०) इस पद्य के आधार पर की गई धारणा जो कि हमारे विचार में सारगर्भित है तो भामह का समय लगभग छठी शताब्दी के बाद का कदापि संभव नहीं हो सकता।

न्यासकार और भामह

भामह की पूर्व सीमा के विषय में 'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकार मतेन वा' (६।३६) इस पद्य में न्यासकार का उल्लेख होने से श्री के० बी० पाठक 'न्यासकार' का प्रयोग जिनेन्द्र बुद्धि के लिये किया गया बतलाते हैं, जिनका समय सन् ७०० ई० कहा जाता है। किन्तु श्री त्रिवेदी इस मत से सहमत नहीं[1] क्योंकि न्यासकार केवल जिनेन्द्र बुद्धि ही नहीं कहा जा सकता, जब कि माधवाचार्य ने धातुवृत्ति में क्षेमेन्द्र न्यास, न्यासोद्योत, वोधिन्यास, और शाकटायन न्यास आदि अनेक न्यासकारों का उल्लेख किया है। महाकवि वाण ने भी—जो निर्विवाद न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि से पूर्ववर्ती था, हर्षचरित में—'कृतगुरुपद न्यास' इस वाक्य में न्यास का उल्लेख किया है। अतएव श्री पाठक की यह कल्पना नितान्त अनाधार है। इस विषय में अन्य विद्वानों द्वारा अधिक विवेचना की गई है, पर उसके द्वारा यहां कुछ सन्तोष-प्रद सहायता नहीं मिल सकती।

भामह और धर्मकीर्ति

भामह के काव्यालंकार में न्याय विषयक विवेचना में किसी अंश में धर्मकीर्ति के साथ समानता प्रतीत होती है। भामह ने अनुमान की परिभाषा—

---

१ देखो इंडियन एंटीक्वायरी सन् १९१३ पृ० २६१

'त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरं विदुः' ॥
—भा० का० लं० ५।११

यह दी है। डा० जेकोबी का मत है कि "धर्मकीर्ति ने 'न्यायविन्दु' में अनुमान की जो—'अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपलिङ्गात् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'। यह स्पष्टता की है, इसीपर' भामह की उपर्युक्त परिभाषा अवलम्बित है।" किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भामह ने यह धर्मकीर्ति से ली है, क्योंकि भामह की कारिका का उत्तरार्द्ध न्यायवार्तिक की टीका में वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के नाम से उद्धृत किया है। यही नहीं, भामह तथा दिङ्नाग के पूर्ववर्ती न्यायाचार्यों ने भी अनुमान के विषय में इसी प्रकार लिखा है। दूसरी समानता भामह के 'दूषणं न्यूनताद्युक्ति' (का० लं० ५।२८) इस वाक्य से धर्मकीर्ति के 'दूषणानि न्यूनताद्युक्ति' (न्यायविन्दु पृ० १३२) इस वाक्य में हैं। और तीसरी समानता भामह के—'जातयो दूषणाभासाः' (का० लं० ५।२९) इस वाक्य से धर्मकीर्ति के—'दूषणाभासास्तु जातयः' (न्याय वि० पृ० १३३) इस वाक्य के साथ है। किन्तु प्रश्न यहां यह है कि क्या धर्मकीर्ति के दिये हुए यह लक्षण उसके मौलिक (नवीन) हैं, जब कि दूषण और जाति दोनों ही विषयों से उसके पूर्वाचार्य भी परिचित थे। न्याय प्रवेश में भी ऐसे ही लक्षण हैं [१]। अतएव इन समानताओं से

१ देखो विद्याभूषण की हिस्ट्री ओफ इंडियन लोजिक (History of Indian Logic) पृ० २९८।

यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही यह न्याय विषयक लक्षण लिये हैं। श्री काणे का मत है कि संभवतः भामह ने यह विषय दिङ्नाग से लिया है। दिङ्नाग का समय डा० शतीशचन्द्र के मत से सन् ५०० ई० के लगभग है[१]। यदि यह कल्पना ठीक हो तो भामह का समय सन् ५०० ई० के बाद का हो सकता है।

भामह और महाकवि भास, कालिदास तथा मेधावि आदि

भामह ने अपने पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र के आचार्यों में कुछ का स्पष्ट नामोल्लेख और कुछ का अस्पष्टतया उल्लेख किया है। उनमें व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि का नामोल्लेख भी स्पष्ट किया है— 'श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं' (६।६३) और संभवतः भरतमुनि के विषय में (१।२४) और महर्षि पतञ्जलि के विषय में (६।२१) भी उल्लेख है। गुणाढ्य, भास और कालिदास का यद्यपि भामह ने स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, पर उनकी कृति पर तो भामह ने प्रत्यक्ष आलोचना की है। भास की स्वप्नवासवदत्ता की भूमिका में प० गणपति शास्त्री ने भामह को भास का परवर्ती और कालिदास तथा बृहत्कथाकार गुणाढ्य का पूर्ववर्ती कल्पना किया है। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है। भामह ने न्याय-विरोधी दोष प्रकरण में (४।३९-४७) वत्सराज की कथा पर आलोचना की है। यह कथा भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक और गुणाढ्य की बृहत्कथा

१ देखो भण्डारकर com जिल्द १ पृ० १६३

दोनों में है। किन्तु भास ने यह प्रकरण जिस ढङ्ग से लिखा है, उसके साथ भामह के आक्षेप का सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो सकता। क्योंकि भामह ने जो आक्षेप किये हैं उनका परिहार भास के वर्णन में स्पष्ट दृष्टिगत होता है अतः वह आक्षेप गुणाढ्य के सम्बन्ध में ही लागू हो सकता है। फिर भामह ने—

'अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतादयः।[1]
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचो ऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥
यदि चोत्कण्ठया तत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

—भा० का०लं० १।४२-४३-४४

इसमें प्रथम के दो पद्यों में मेघ, पवन, भ्रमरादि पक्षियों की दूत-कल्पना पर आक्षेप किया गया है। पं० गणपति शास्त्री कहते हैं कि इसमें केवल युक्तायुक्त पर विचार किया गया है—कालिदास के मेघदूत से भामह परिचित न था। किन्तु यह किस प्रकार सभव है—जबकि कालिदास द्वारा मेघ की कल्पना में—'इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्त ययाचे' और 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' इत्यादि जो कारण मेघ की दूत-कल्पना में बताये गये हैं,

---

१ पाठान्तर—जलभृन्मारुतेन्दवः।

भामह ने उन्हीं 'यदि चोत्कण्ठया' और 'तदुन्मत्त' इत्यादि शब्दों से ऊपर के अवतरण के तीसरे पद्य में इस दोष की उपेक्षा की है। इससे स्पष्ट है कि मेघ की दूत-कल्पना में जो कालिदास ने 'उत्कण्ठा' आदि कारण बतलाये हैं, वे भामह को उचित प्रतीत हुए, इसीसे उसने केवल 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' यही कह कर समाधान कर दिया है। काव्यालंकार की भूमिका में श्री बटुकनाथ एम० ए० और श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए० ने कालिदास और भामह के सम्बन्ध में इसी प्रसंग के विषय में यह तर्क किया है कि 'भामह ने कालिदास का अनुसरण किया तो इस एक ही प्रसंग में क्यों, अन्य किसी विषय में क्यों नहीं ?'। किन्तु इस तर्क का प्रथम तो इस प्रसंग में कुछ प्रभाव ही नहीं हो सकता, जबकि भामह न्यायविरोधी दोषों के विषय पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य-कृति पर आलोचना कर रहा है, संभव है भामह की दृष्टि में कालिदास के वर्णित अन्य प्रसगों में उसे कुछ आलोचनीय प्रतीत न हुआ हो, इस तर्क का यही उत्तर पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त भामह के ग्रन्थ में कालिदास के ग्रन्थों की छाया और भी अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष देखी जाती है—

भामह	कालिदास
'मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्प-विन्दवः'। (६।३१)	'हृतोष्ठरागैर्नयनोदविन्दवः' विक्रमो० अं० ४
'जानुदघ्नी सरिन्नारी नितम्बद्वय-संसरः'। (६।५५)	'नारी नितम्बद्वयसंबभूव'।

भामह	कालिदास
'अयं मन्दद्युतिर्भास्वा- नस्तंप्रतियियासति । उदयं पतनायेति श्रीमतोबोधयन्नरान्' ॥ —३।३४	'यात्येकतोऽस्तशिखरं पति- रौषधीनामाविष्कृतोरुणपुर- स्सर-एकतोऽर्कः । तेजोद्वयस्य युगपद् व्यस- नोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ —शाकु० अङ्क ४।२

इस विषय की अधिक स्पष्टता हमने अपने हिन्दी मेघदूतविमर्श की भूमिका (पृ० ७५-८०) में की है। अतएव स्पष्ट है कि भामह, कालिदास का परिवर्ती है। और संभवतः भामह की पूर्व सीमा कालिदास के समय पर ही निर्भर हो सकती है। किन्तु कालिदास का समय भी अत्यन्त जटिल और सदिग्ध है। इस विषय में विद्वान् लेखक दो श्रेणी में विभक्त हैं। एक श्रेणी के विद्वान् इनको ईसवी सन् के पश्चात् गुप्त राज्य-काल में बतलाते हैं, और दूसरी श्रेणी के ईसवी सन् के पूर्व बतलाते हैं। हमने भी इस पर यथासाध्य विचार अपने हिन्दी मेघदूतविमर्श की भूमिका में प्रदर्शित किये हैं। हमारे विचार में संभवतः महाकवि कालिदास, पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के समकालीन हैं। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक अग्निमित्र और उसकी प्रियतमा मालविका के नाम से लिखा है। अग्निमित्र का समय ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी कहा जाता है।

यदि यह कल्पना ठीक मानी जाय तो भामह की पूर्व सीमा भी एकांश में सम्भवतः उसके बाद हो सकती है। और भामह की उत्तर सीमा छठी शताब्दी के लगभग है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। बस इससे अधिक भामह के समय के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

दण्डी और उसका काव्यादर्श

"जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधा भवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥"

साहित्य के उपलब्ध प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में भामह के बाद दण्डी का काव्यादर्श हो मिलता है। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं।

(१) प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्य-भेद, महाकाव्य-लक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्र-काव्य, भाषा-प्रभेद,वैदर्भ आदि मार्ग, अनुप्रास, गुण और काव्य-हेतु का विवेचन है।

(२) द्वितीय परिच्छेद में ३५ अर्थालङ्कार (संसृष्टि सहित) निरूपण किये गये हैं।

(३) तृतीय परिच्छेद में यमक, गोमूत्रादि चित्रबध काव्य, प्रहेलिका और दश दोषों का निरूपण है।

जिस प्रकार उद्भट, आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मट जैसे लब्ध प्रतिष्ठ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने भामह का नाम और उसका मत गौरव के साथ उल्लेख किया है, तादृश उल्लेख यद्यपि दण्डी के विषय में दृष्टिगत नही होता है, पर उसका यह कारण नहीं कि दण्डी के ग्रन्थ का महत्व भामह के सम-कक्ष नहीं, यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो भामह का न्यायदोष प्रकरण यदि दण्डी से अधिक महत्वपूर्ण है, तो दण्डी की अलङ्कार, रीति, और गुणों के विवेचन की मौलिकता भामह की अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत और उपयोगी है। सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्याचार्यों द्वारा भामह के समान दण्डी का उल्लेख न किये जाने का एकमात्र कारण सभवतः यही है कि दण्डी दाक्षिणात्य था और भामह काश्मीरी। साहित्य के प्राचीन प्रसिद्ध लेखक प्रायः काश्मीरी ही अधिक हुए हैं, इसी से उनके द्वारा भामह को इतना गौरव प्राप्त हो सका है और उस गौरव का मम्मट एवं रुय्यक के समय तक उसी प्रकार प्रभाव रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश की व्यापक और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचना के प्रकाश ने केवल भामह के ग्रन्थ को ही नहीं, किन्तु प्रायः सभी पूर्वापर ग्रन्थों को निस्तेज कर दिया, फिर ऐसी अवस्था में दण्डी के ग्रन्थ का—जो स्वयं ही निर्विकास था, अपनी पूर्वावस्था में रहना स्वाभाविक ही था।

दण्डी ही ऐसा प्रधान साहित्याचार्य है जिसने अपने पूर्ववर्तियों से सबसे अधिक अलङ्कारों के उपभेदों का एवं गुण और रीति का विस्तृत निरूपण किया है। किन्तु उसके निरूपित अलङ्कारों के

उपभेदों का अधिकांश में उसके परवर्ती आचार्यों ने अनुसरण नहीं किया है

काव्यादर्श पर ६ प्राचीन टीकाएं हैं जिनमें एक तरुण वाचस्पति की व्याख्या और दूसरी अज्ञात नामा विद्वान् की 'हृदयङ्गमा' मुद्रित हो चुकी है। और एक नवीन 'कुसुमप्रतिमा' नामक टीका पण्डित नृसिंहदेव शास्त्री दर्शनाचार्य प्रणीत अभी लाहौर से प्रकाशित हुई है। इस टीका की विवेचन शैली महत्वपूर्ण होने के साथ सुबोधगम्य भी होने के कारण उल्लेखनीय है।

दण्डी का व्यक्तिगत परिचय

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दक्षिण प्रान्त के मलयानिल (२।१७४ और ३।१६५), काञ्ची (अस्पष्ट ३।११४) कावेरी (३।१६६) और चोल (अस्पष्ट ३।१६६) स्थानों का वर्णन किया है, ऐसे ही आधारों पर दण्डी को दाक्षिणात्य कल्पना किया जाता है। सभव है यह कल्पना ठीक हो, जब कि दण्डी की वर्णन शैली भी वैदर्भी रीति प्रधान है जो काश्मीर प्रान्त के साहित्यिकों से प्रायः भिन्न प्रतीत होती है।[१]

---

१ 'दशकुमार चरित' नामक दण्डी का पद्यात्मक काव्य वैदर्भी प्रधान है।

दण्डी द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

मि० पीटरसन् ने[1]—

'त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥'

यह पद्य राजशेखर के नाम से उद्धृत किया है। इसमें दण्डी को तीन प्रबन्धों का प्रणेता बताया गया है। इनमें काव्यादर्श और दशकुमार चरित्र दण्डी के नाम से प्रसिद्ध और उपलब्ध हैं। यद्यपि दशकुमार चरित्र को भी श्री त्रिवेदी[2] और श्री आगशे[3] दण्डी-प्रणीत नहीं मानते हैं। उनका तर्क यह है कि दण्डी ने काव्यादर्श में जो दोष निरूपण किये हैं, वे अधिकाश में दशकुमार-चरित्र की रचना में वर्तमान हैं। किन्तु इस तर्क के आधार पर दण्डी को दशकुमार-चरित्र के प्रणेता के अधिकार से वञ्चित नही रक्खा जा सकता। क्योंकि काव्य-नियम-निरूपक अपने ग्रन्थ में दोषों का विवेचन किया जाना एक अन्य बात है, और अपनी कृति में उन दोषों को न आने देना दूसरी बात है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचार-चर्चा में अपने निर्दिष्ट दोषों के अनेक उदाहरणो में स्वय प्रणीत ग्रन्थों के पद्य भी अपने नामोल्लेख सहित उद्धृत किये हैं। फिर यह भी सभव है,

---

१ देखो सुभाषितावली की भूमिका पृ० १०१ पद्य संख्या १७४

२ देखो प्रतापरुद्रीययशोभूषण की भूमिका।

३ देखो इण्डियन एण्टीक्वेरी सन् १९०५ पृ० ६७।

दण्डी ने काव्यादर्श के प्रणयन के पूर्व अपनी साहित्य-क्षेत्र की प्रवेशावस्था में दशकुमार-चरित्र लिखा हो। दण्डी के तीसरे ग्रन्थ के विषय में अबतक कुछ पता नही मिलता था। किन्तु हर्ष का विषय है कि दण्डी का तीसरा ग्रन्थ 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक अब दक्षिण भारत ग्रन्थावली में मुद्रित हो गया है। जिसके विषय में आगे लिखा जायगा।

काव्यादर्श में दण्डी ने लिखा है—' 'तस्याःकलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति' (३।१७१) इसके द्वारा ज्ञात होता है कि वह कला परिच्छेद लिखना चाहता था, उसे वह काव्यादर्श का ही चतुर्थ परिच्छेद बतलाता है अथवा अन्य स्वतंत्र ग्रन्थ ? यह अनिश्चित है और यह भी पता नही चल सकता कि उसे वह लिख पाया या नहीं ?

दण्डी का समय

दण्डी का समय भी अत्यन्त संदिग्ध है। दण्डी की अन्तिम सीमा के लिये अन्य ग्रन्थों में निम्न लिखित आधार प्राप्त होते हैं—

(१) श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने, जिनका समय लगभग दशम शताब्दी है, ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन में लिखा है—

'यथाहदण्डी–

गद्यपद्यमयीचम्पूः' (उद्योत ३।७ की वृत्ति पृ० १४१)

(२) प्रतिहारेन्दुराज ने, जिसका समय लगभग ईसवी सन् ९२५ है, उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति (पृ० २८) में लिखा है—'अतएव दण्डिना लिम्पतीव' इत्यादि।

(३) कनारी भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक एक ग्रन्थ राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोघवर्ष प्रणीत है। उसके सम्पादक श्री पाठक के कथनानुसार उस ग्रन्थ में साधारणोपमा, असंभवोपमा, सभवोपमा, विशेषोक्ति, और अतिशयोक्ति की परिभाषाएँ दण्डी के काव्यादर्श से सर्वथा अनुवादित हैं। और अन्य भागों पर भी काव्यादर्श का पर्याप्त प्रभाव है। उस ग्रन्थ का निर्माणकाल शक ७३७-७९७ (८१५-८७५ ई०) है।

(४) सिंहली भाषा में एक 'सियाकसलकार' (स्वभाषालङ्कार) नामक ग्रन्थ है। वह दण्डी के काव्यादर्श पर ही अवलम्बित है, उसमें काव्यादर्श का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। महावंश के अनुसार इसका लेखक प्रथम राजा सेन का राज्यकाल सन् ८४६-८६६ ई० है ※।

(५) वामन के काव्यालङ्कार सूत्र से दण्डी के काव्यादर्श की तुलनात्मक विवेचना द्वारा विदित होता है कि वामन से दण्डी प्राचीन है। दण्डी ने रीति-सिद्धान्त का जो महत्वपूर्ण विवेचन किया था, उसे वामन ने अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया है। दण्डी, वैदर्भ और गौड़ी दो ही मार्ग बतलाता है—'तत्र वैदर्भ गौडीयौ' (१।४०), किन्तु वामन उनमें

※ देखो जरनल ओफ दी रोयल एसियाटिक सोसाइटी सन् १९०५ पृ० ८४१।

एक 'पाञ्चाली' और बढाकर तीन बतलाता है। वामन इनको 'मार्ग' न कह कर 'रीति' कहता हुआ (यद्यपि उसने 'मार्ग' का प्रयोग भी किया है ३।१।१२) इतना महत्व देता है कि—'रीतिरात्माकाव्यस्य' (१।२।६) इससे ज्ञात होता है कि वामन की पाञ्चाली रीति से और उसके पारिभाषिक शब्द 'रीति' से दण्डी सर्वथा अपरिचित था। और भी ऐसे कारण है, जिनके द्वारा दण्डी का वामन से प्रथम होना प्रतीत होता है। वामन का समय आठवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्द्ध है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

इन आधारों पर दण्डी की अन्तिम सीमा सन् ८०० ईसवी के लगभग हो सकती है। किन्तु एक और भी प्रमाण मिलता है, जिसके द्वारा यह सीमा और भी पूर्व काल तक चली जाती है। शार्ङ्ग-धर पद्धति में (सख्या १८०) विज्जिका नाम्नी एक स्त्री लेखिका का—

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥'

यह पद्य है काव्यादर्श में दण्डी ने मगलाचरण के प्रथम पद्य में 'सर्व-शुक्लासरस्वती' लिखा है। इस पर विज्जिका का यह व्यङ्गयात्मक उपहास है। विज्जिका के अनेक पद आचार्य मम्मट आदि के ग्रन्थों में उदाहरण रूप में मिलते हैं। इसके पद्य विजया, विज्जा के नाम से भी उद्धृत किये गये हैं। इसके विषय में जल्हण की सूक्ति मुक्ता-वली (संख्या १८४) में राजशेखर के नाम से—

'सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥'

यह पद्य है। इसके द्वारा यह दक्षिण प्रान्त की विदित होती है। सभवतः यह विख्यात कार्णाटी वही भट्टारिका विजियाङ्का है, जो चन्द्रादित्य की महारानी थी। चंद्रादित्य द्वितीय पुलकेशिन का पुत्र था[१]। इसका समय सन् ६६० ई० है। यदि विजियाङ्का का विज्जिका से एकीकरण भ्रमात्मक न हो, जैसा कि सभव भी नहीं है, क्योंकि जिसने स्वय अपनी विद्वत्ता के गर्व पर दण्डी पर व्यङ्गयोक्ति की है और जिसके विषय में राजशेखर जैसे विद्वान् द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण उल्लेख हो सकता है, तो दण्डी की अतिम सीमा विज्जिका के पूर्व लगभग सन् ६०० ई० तक चली जाती है। इसके सिवा ईसवी सन् की छठी शताब्दी के सुबन्धु प्रणीत वासवदत्ता में—' 'यश्च छन्दोविचिति-रिव कुसुमविचित्राभिः।' 'छन्दो विचितिरिव मालिनीसनाथा।' 'छन्दो-विचितिमिव भ्राजमानतनुमध्याम्' इस प्रकार तीन स्थलों पर 'छन्दो विचिति शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दण्डी के—'छन्दो विचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।' इस वाक्य में दण्डी ने अपने जिस 'छन्दो विचिति' नामक अपने छन्द-ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, उसी के विषय मे उपर्युक्त वाक्य सुबन्धु के हैं। यदि वह कल्पना ठीक हो तो इसके द्वारा भी दण्डी का सुबन्धु के

१ देखो इडियन एण्टीक्वेरी पुस्तक ७ पृ० १६७ और पु० ८ पृ० ४८

पूर्ववर्ती अर्थात् ईसवी की छठी शताब्दी में होना सिद्ध होता है। दण्डी का समय बहुत से ऐतिहासिक विद्वान् छठी शताब्दी में ही बतलाते हैं। जैसे मि० मेक्समूलर[1], मि० वेबर[2], प्रोफेसर मेकडोनल[3] और कर्नल जेकब[4] आदि।

किन्तु दण्डी की पूर्व सीमा के लिये जो अन्य आधार उपलब्ध होते हैं, वे अधिक प्रबल हैं, और उनके द्वारा ऊपर की मान्यता पर आघात पहुचता है। श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न, मि० पीटरसन और जेकोबी का मत है कि दण्डी के २।१९७ में बाण की कादम्बरी (बोम्बे सस्कृत सीरीज संस्करण के पृ० १०२ पंक्ति १६) का प्रतिबिम्ब है। वाण का समय तो महाराज श्री हर्षवर्द्धन के समकालीन ६०६-६४७ ई० है।

मि० जेकोबी का मत है कि दण्डी के—

'रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्वतः॥'

—का० द० २।३०२

---

१ देखो इंडिया ह्वाट केन इट् टीच अस—India what can it teach us संस्करण १ पृ० ३३२।

२ देखो हिस्ट्री ओफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३२।

३ देखो हिस्ट्री ओफ सस्कृत लिटरेचर पृ० ४३४

४ देखो जरनल ऑफ दी रोयल एसियाटिक सोसा० सन् १८४७ पृ० २८७।

इस पद्य का माघ के—

'रत्नस्तम्भेषु सन्क्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव॥'

—शिशुपा० २।४

इस पद्य में समानता है। इनमें समानता किसी अंश में अवश्य है। किन्तु इस अत्यन्त शिथिल आधार पर माघ और दण्डी के पूर्वापर की कल्पना करना नितान्त अविश्वसनीय है। अच्छा, एक और आधार उपलब्ध होता है, उसके द्वारा दण्डी के पूर्वोक्त समय पर कुछ और ही प्रकाश पड़ सकता है। दण्डी-प्रणीत पूर्वोक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक ग्रन्थ जो अभी मद्रास में मुद्रित हुआ है, उससे विदित होता है, कि दण्डी, महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। उस ग्रन्थ में स्वय दण्डी ने लिखा है कि भारवि के पूर्वज गुजरात प्रान्तस्थ आनन्दपुर के निवासी थे, वहां से वे नासिक आये, फिर दक्षिण के अचलपुर में—सभवतः अब जिसे एलिचपुर कहते हैं, रहने लगे। इसी वंश में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण नारायण स्वामी के पुत्र महाकवि भारवि थे। भारवि का असली नाम दामोदर था। महाकवि भारवि का उल्लेख सर्व प्रथम दक्षिण के चालुक्यवशी राजा पुलकेशी (द्वितीय) के शिला लेख में इस प्रकार मिलता है—

'येनायोजिनवेश्मस्थिरमर्थविधौविवेकिना जिनवेश्म।
स विजयता रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥*

* देखिये—इण्डियन एण्टिक्वेरी ५।६७-७१।

यह शिलालेख शक ५५६ (६३४ ई०) का लिखा हुआ है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारवि सप्तम शताब्दी में सुप्रसिद्ध हो चुके थे। अवन्तिसुन्दरीकथा में यह भी उल्लेख है कि भारवि, युवराज विष्णु-वर्द्धन की—जो पुलकेशी द्वितीय का कनिष्ठ भ्राता था, सभा में रहा। तदनन्तर भारवि पश्चिम के गङ्गावंशीय राजा दुर्विनीत के आश्रय में रहा। दुर्विनीत का समय भी सप्तम शताब्दी ही माना जाता है। दुर्विनीत ने भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग की टीका की है, जैसा कि राजा पृथ्वीकोंकण के दानपत्र के—

'किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोंकारो दुर्विनीतनामधेयः।'

इस वाक्य द्वारा विदित होता है। अतएव भारवि का समय लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सप्तम शताब्दी के प्रथम चरण तक माना जा सकता है। और अवन्तिसुन्दरीकथा के—

'मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्द्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवा भवन्' ॥

श्री वीरदत्त इत्येषां मध्यमो वशवर्द्धनः।
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामा भवत्प्रिया ॥
ततः कथञ्चित्सा गौरी द्विजाधिपशिरोमणेः।
कुमारं दण्डिना मानं व्यक्तशक्तिमजीजनत् ॥

इन पद्यों से विदित होता है, कि भारवि का मध्यम पुत्र मनोरथ के चार पुत्रों में सबसे छोटा वीरदत्त था। वीरदत्त की पत्नी का नाम

गौरी था। इन्हीं वीरदत्त और गौरी देवी से दण्डी का जन्म हुआ है। इनकी जन्मभूमि काञ्ची (आधुनिक कांजीवर) थी। इसके द्वारा दण्डी का दाक्षिणात्य होना भी सिद्ध है, जैसी कि अबतक विद्वानों की कल्पना है। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये २० वर्ष भी मान लिये जांय तो भी दण्डी का समय इस आधार पर सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण हो सकता है। इसके द्वारा भामह और दण्डी के पूर्वापर के सम्बन्ध में जो पहिले विवेचन किया गया है, उसकी पुष्टि भी होती है कि भामह का समय महाकवि बाण के पूर्ववर्ती सभवतः छठी शताब्दी है। और दण्डी का सप्तम शताब्दी का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है।

उद्भट और उसका काव्यालङ्कारसारसंग्रह

"विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥"

—राजत० ४।४९५

भामह और दण्डी के बाद अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि उद्भटाचार्य है। इन्होंने काव्यालङ्कारसारसग्रह ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ भी लुप्तप्राय था, इसकी खोज के यशोभागी मि० बूल्हर हैं, जिन्होंने लघुवृत्ति युक्त इस ग्रन्थ की एक प्रति प्रथम जेसलमेर में प्राप्त

की थी। यह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है। और ७५[1] कारिकाओं में ४१ अलङ्कारों का निरूपण है। और ९५ पद्यों में उदाहरण हैं, जो उद्भट ने स्वयं प्रणीत 'कुमारसंभव' काव्य के दिये हैं, जैसा कि लघु-वृत्तिकार प्रतिहारेन्दुराज ने अन्तदीपक की वृत्ति में कहा है—'अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसभवैकदेशोत्र उदाहरणत्वेनोपन्यस्तः'।

उद्भट ने अलङ्कारों का क्रम और उनके वर्ग भामह के काव्यालङ्कार के अनुसार रक्खे हैं, और प्रायः संख्या भी। भामह के निरूपित ३९ अलङ्कारों में से इसने आशी, उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक, और यमक इन चार को छोड़ दिये हैं, और पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास काव्यालिङ्ग, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और संकर यह छः अलङ्कार अधिक निरूपण किये हैं। उद्भट ने १२ अलङ्कारों के लक्षण अक्षरशः भामह से लिये हैं, जैसा कि पहिले (पृ० ११४ में) कहा गया है। इनके सिवा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक के लक्षणों में भी भामह से अधिकांश साम्य है। ईसका मुख्य कारण सभवतः यह है कि जिस अलङ्कार के विषय में उद्भट के विचार भामह के समान थे, उन्हीं अलङ्कारों के लक्षण उसने भामह से लिये हैं, जैसा कि आचार्य मम्मट ने भी किसी-किसी लक्षण के विषय में ऐसा किया है। और जिन लक्षणों के विषय में भामह से उसका मतैक्य नहीं था, उनमें

---

१ यह संख्या बोम्बे संस्कृत सीरीज के संस्करण के अनुसार है। निर्णयसागर प्रेस के संस्करण में ७९ कारिकाओं में लक्षण और १०० में उदाहरण है।

उद्भट ने परिवर्तन कर दिया है। और भामह के जिन लक्षणों से उद्भट सर्वथा सहमत न था उनको उसने नवीन निर्माण किये हैं। अतएव उद्भट को भामह का दासवत् अनुयायी नहीं कहा जा सकता है। भामह के निरूपित ४ अलङ्कारों का उसने बहिष्कार कर दिया है और छः अलङ्कार उद्भट ने नवीन लिखे हैं—जैसा कि अभी कह चुके हैं। उद्भट के निरूपित इन ६ अलङ्कारों को उसके परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। यही नहीं, इन छः अलङ्कारों में पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और दृष्टान्त यह तीन तो सबसे प्रथम उद्भट द्वारा ही आविष्कृत हैं—इसके पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि ने नहीं लिखे हैं। एवं अनुप्रास, श्लेष, और प्रेय अलङ्कार के विषय में तथा और भी अनेक स्थलों पर उद्भट का भामह से मतभेद है।

उद्भट ने काव्यालङ्कारसारसंग्रह के सिवा 'भामह विवरण' भी लिखा है—जिसका काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज द्वारा विशेषोक्ति की व्याख्या में और ध्वन्यालोक के लोचन में भी उल्लेख है[१]।

उद्भट का परिचय

उद्भटाचार्य बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अलङ्कारशास्त्र में इनका उच्च स्थान है। इनके परवर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इनका मत और नामोल्लेख सम्मान के साथ किया है। श्री आन-

---

१ देखो ध्वन्यालोक लोचन पृ०४०—'यत्तु विवरणकृत्' इत्यादि।

न्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति में भी उल्लेख किया है—'तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः' (पृ० १०८)। लोचन में श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी उल्लेख किया है—'भट्टोद्भटवामनादिना' पृ० १०। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने 'इति औद्भटाः (पृ० ४०) और कहीं—'उद्भटमतानुयायिनः' भी लिखा है। इसके द्वारा विदित होता है कि उद्भट के मतानुयायी अनेक विद्वान् थे। काव्यप्रकाश में शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष की भिन्नता के प्रतिपादन में उद्भट की आलोचना भी की गई है[1]। रुय्यक ने भी इनका मत (त्रिवेन्द्रम स० पृ० ३) अन्य आचार्यों के साथ उद्धृत किया है।

काव्यालङ्कारसारसग्रह यद्यपि सक्षिप्त ग्रन्थ है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। किन्तु सम्भव है उद्भट के विचारों का यह अत्यन्त अल्प भाग हो। क्योंकि उद्भट जैसे विद्वान् द्वारा अलङ्कार शास्त्र पर अधिक विवेचन न किया जाना आश्चर्य का विषय है। सम्भव है इस विषय पर भामह विवरण में अथवा अन्य किसी स्वतत्र ग्रन्थ में उसने अधिक विवेचन किया हो—जो अब अनुपलब्ध है। कर्नल जेकब ने—'रसाधिष्ठितं काव्य' इस पद्य को उद्भट का समझ कर यह लिखा है कि उद्भट रस को काव्य की आत्मा बताता है[2]। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है, क्योंकि प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में—काव्यलिङ्ग के लक्षण की सख्या ७४ वीं कारिका की वृत्ति में 'तदाह'

१ देखो काव्यप्रकाश नवम उल्लास श्लेष प्रकरण।

२ देखो जरनल आफ दी रो० ए० सो० सन् १८९७ पृ० ८४५।

के आगे यह पद्य लिखा है, (त्रिवेन्द्रम् संस्करण) जिससे स्पष्ट है कि यह पद्य उद्भट का नहीं, किन्तु प्रतिहारेन्दुराज ने अपने किसी पूर्ववर्ती का उद्धृत किया है। उद्भट ने तो रसवत् अलङ्कार की परिभाषा में रसों का केवल नामोल्लेख मात्र ही किया है—रस पर अधिक विवेचन नहीं किया। और यही बात लघुवृति में प्रतिहारेन्दुराज ने इन कारिकाओं की व्याख्या में स्पष्ट की है—'रसानां भावानां च किं काव्यालङ्कारत्वमुतकाव्यजीवितत्वमिति न तावद्विचार्यते ···अप्रकृतत्वाच्च' (पृ० ५४ बोंबे स० सीरीज) इसके सिवा रुय्यक ने अलङ्कार सर्वस्व (पृ० ७ त्रिवेन्द्र० संस्क०)—'अलङ्काराएवकाव्ये प्रधानम्' इस सिद्धान्त की पुष्टि में अलङ्कारों को काव्य में प्रधान मानने वाले प्राचीन आचार्यों के साथ ही उद्भट का नामोल्लेख किया है। अतः कर्नल जेकब की यह कल्पना भ्रमात्मक और निर्मूल है। जहांतक देखा जाता है, उद्भट और उनके अनुयायियों का मत तो यह है कि गुण और अलङ्कार वस्तुतः एक ही स्वभाव के हैं—दोनों ही काव्य-सौन्दर्य-वर्द्धक है और दोनों ही का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है, इनमें भेद केवल यही है कि ये काव्य के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, इसी कारण से इनका पृथक् पृथक् निर्देश किया जाता है।

उद्भट का समय

श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने उद्भट का उल्लेख किया है—जिनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अतः उद्भट उनके पूर्ववर्ती हैं। इसके सिवा राजतरङ्गिणी में भी उल्लेख है कि यह काश्मीर

के शासक जयापीड की विद्वद् परिषद् के सभापति थे और इनका वेतन प्रतिदिन का एक लक्ष दीनार—एक प्रकार की सुवर्ण-मुद्रा था—

'विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः'॥

—राजत० ४।४९५

जयापीड का शासन काल सन् ७७९ से ८१३ ई० तक माना जाता है। किन्तु उद्भटाचार्य, जयापीड के शासन काल के प्रथम भाग में रक्खे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि जयापीड ने अपने शासन के अन्तिम भाग में प्रजा पर अत्याचार किया था, जिससे वह ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया था। अतएव उद्भट का समय ईसवी सन् की ८ वीं शताब्दी में ही सम्भव हो सकता है।

उद्भट के काव्यालङ्कार पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका ही सबसे प्राचीन है। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने विषय में स्वयं लघुवृत्ति के प्रारम्भ में—'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते' और अन्त में 'कौंकणः श्रीन्दुराजः' यह लिखा है। अतः यह मुकुल का शिष्य और कौंकण निवासी था। इसने भामह और दण्डी के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर वामन का नामोल्लेख भी किया है। (पृ० १८,८२, ८८, ९०)। मुकुल ने अभिधावृत्तिमातृका ग्रन्थ लिखा है, उसमें उद्भट का नामोल्लेख भी है। उसके अन्तिम पद्य में मुकुल ने अपने पिता का नाम भट्ट कल्लट लिखा है, जो कि राजतरङ्गिणी के—'अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्लटादयः। अवन्तिवर्मणः काले' (५।६६) इस

उल्लेख के अनुसार काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के समकालीन था। अवन्तिवर्मा का समय सन् ८५५–८८४ ई० है। अतः मुकुल का समय लगभग ईसा की नवीं शताब्दी और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी इसी समय में माना जा सकता है। मि० पीटरसन इस प्रतिहारेन्दुराज का और भट्टेन्दुराज का एकीकरण करता है, उस भट्टेन्दुराज का—जिसका उल्लेख श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने उपाध्याय के रूप में लोचन में (पृ० ४३, ११६, २०७, २१४) और नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती व्याख्या में, 'उपाध्यायाः' (पृ० १०९, २७५) और 'भट्टेन्दुराज' (पृ० ३०६) किया है। किन्तु यह एकीकरण भ्रमात्मक है, प्रतिहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज भिन्न भिन्न हैं, इस विषय पर आगे ध्वन्यालोक विषयक निबन्ध में अभिनवगुप्ताचार्य के प्रसङ्ग में उल्लेख किया जायगा।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति और राजानक तिलक के उद्भटविवेक[†] के अतिरिक्त एक उद्भटालङ्कार विवृत्ति भी है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति मालावार से उपलब्ध मद्रास गवर्नमेंट लायब्रेरी में है उसके लेखक का नाम अज्ञात है। उस विवृति के बहुत से उद्धरण भंडारकर ओरियनटेल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा मुद्रित काव्यालङ्कारसारसंग्रह में उद्धृत किये गये हैं।

[†] देखो अलङ्कारसर्वस्व (निर्णयसागर संस्करण) पृ० ११५ और २०५।

वामन और उसका काव्यालङ्कारसूत्र

"पावनी वामनस्येयं पदोन्नतिपरिष्कृतिः ।
गम्भीरा राजतेवृत्तिर्गंगेव कविहर्षिणी" ॥
—कामधेनु व्याख्या ।

उद्भट के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर काव्य-लक्षण ग्रन्थों का लेखक वामन दृष्टिगत होता है। वामन ने काव्यालङ्कार-सूत्र नामक ग्रन्थ प्रणीत किया है। यह सूत्रों में है और सूत्रों पर स्वय वामन ने वृत्ति भी लिखी है।

इस ग्रन्थ में पांच अधिकरणों में बारह अध्याय हैं। और ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, अधिकारी, रीति और काव्य के अङ्ग; दूसरे में दोष; तीसरे में गुण; चौथे में अलङ्कार और पाचवे में काव्य-समय और शब्द-शुद्धि प्रकरण है। शब्द-शुद्धि प्रकरण में भामह के छठे परिच्छेद के साथ अधिकांश में साम्य है।

वामन ने केवल ३३ अलङ्कार निरूपण किये हैं, जिनमें ३१ इसके पूर्ववर्ती भामह और दण्डी द्वारा निरूपित हो गये थे। और वक्रोक्ति एवं व्याजोक्ति यह दो अलङ्कार सभवतः इसी के द्वारा नवीन आविष्कृत हैं। इसने स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक और आशी, यह आठ अलङ्कार, जो—भामह और

दण्डी दोनों के निरूपित थे और आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, और लेश यह चार, जो केवल दण्डी के निरूपित थे, नहीं लिखे हैं। इसके सिवा वामन ने 'विशेषोक्ति' की परिभाषा भी विचित्र दी है—जिसको पंडित राज ने रसगङ्गाधर में दृढारोपरूपक बतलाया है। और आक्षेप के इसने जो भेद बतलाये हैं, वे भी विचित्र हैं, वे काव्य-प्रकाश में निरूपित प्रतीप और समासोक्ति में मिलते हैं। 'वक्रोक्ति' अलङ्कार जो इसने नवीन निरूपण किया है, उसकी परिभाषा—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (४।३।८) भी विलक्षण है।

वामन ही एक ऐसा लेखक है, जिसने 'वैदर्भी' रीति में सब गुणों के व्यञ्जक वर्णों वाली रचना, 'गौडी' में ओज और कान्ति गुण व्यञ्जक वर्णों वाली रचना और पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण-व्यञ्जक वर्णों वाली रचना का होना बताया है। फिर इसने गुणों और अलङ्कारों का भेद—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' ।

—काव्यालं० सू० ३।१।१,२,

इन सूत्रों में दिखाया है। यद्यपि काव्य में गुणों की स्थिति की—जिन पर 'रीति' अवलम्बित हैं, आवश्यकता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है, पर उनको काव्य की आत्मा मानकर ऐसी प्रधानता देनेवाला एक वामन ही है। रीति सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों पर ध्वनि-कारों ने (३।५२ कारिकायें) आक्षेप किया है। एवं आचार्य

मम्मट ने वामन के यह दोनों सूत्र उद्धृत करके काव्यप्रकाश में इनकी बड़ी ही तीव्र किंतु सार-गर्भित और मार्मिक आलोचना की है, जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में 'रीति सम्प्रदाय' के अन्तर्गत किया जायगा। मम्मट की उस आलोचना का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि, उसके द्वारा वामन का रीति-सिद्धांत सर्वथा विच्छिन्नप्राय हो गया।

वामन का समय

वामन की अंतिम सीमा के लिये स्पष्ट उल्लेख राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है—

'कवयोऽपि भवन्ति' इति वामनीयाः'

(काव्यमी० पृ० १४)

'तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोनन्तराः'

इति वामनीया' (पृ० १४)

यह अवतरण राजशेखर ने सभवतः वामन के काव्यालङ्कारसूत्र की वृत्ति से उद्धृत किये हैं। किंतु मुद्रित काव्यालङ्कारसूत्र में पाठ-भेद है ※। संभव है, काव्यमीमांसा की हस्तलिखित प्रति के प्रमाद

※ देखो निर्णयसागर संस्करण एवं विद्याविलास प्रेस बनारस सस्करण काव्यालङ्कारसूत्र प्रथम अधिकरण अध्याय २ का प्रथम, द्वितीय और तृतीय सूत्र तथा वृत्ति।

से ऐसा हुआ हो। अस्तु, इसके द्वारा यह तो स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में (सन् ९२५ ई०) वामन प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी वामन का नामोल्लेख किया है— " 'वामनस्य तु उपमानाक्षेपः' इति आक्षेपलक्षणात्" (ध्वन्या० लोचन पृ० ३७)। इसके सिवा ध्वन्यालोक की (३।५२ की कारिका की) वृत्ति में जो रीति-सिद्धांत प्रवर्तकों पर आक्षेप है, उसके द्वारा प्रतीत होता है कि श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य भी वामन से परिचित थे, इसकी पुष्टि ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगति कीदृक् तथापि न समागमः' ॥

(पृ० ३७)

इस पद्य की अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा की गई—

'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्याशयं मनसि गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकोदाहरणम् व्यतरत् ग्रन्थकृत्'।

(पृ० ३७)

इस व्याख्या द्वारा भी होती है। और श्री आनन्दवर्धनाचार्य (जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है) वामन के परवर्ती सिद्ध होते हैं।

उद्भट के काव्यालं० सा० पर लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भी

लिखा है—'भट्टवामनेन चात्र वक्रोक्ति-व्यवहारः प्रवर्तितः' (पृ० ८८ बोंबे सीरीज) इससे भी उक्त समय की पुष्टि होती है।

वामन की पूर्व सीमा के लिये भी साधन मिलते हैं। उसने अपने काव्यालङ्कारसूत्र (४।३।६ सूत्र की वृत्ति) में 'इय गेहे लक्ष्मी-रियममृतवर्तिर्नयनयोः'। यह पद्य भवभूति के उतररामचरित (अङ्क १।३८) का रूपक के उदाहरण में उद्धृत किया है। भव-भूति का समय लगभग सन् ७२५ ई० है, क्योंकि उसके आश्रय-दाता कन्नौज के राजा यशोवर्मन का यही समय माना जाता है।

वामन ने अतिशयोक्ति के उदाहरण में[1] माघके शिशुपालवध का—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्'।
(सर्ग ३।८)

यह पद्य और शब्द-शुद्धि प्रकरण में[2]—'सित सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु' इत्यादि शिशुपालवध (१।२५) का पद्य उद्धृत किया है। माघ का समय मि० जेकोवी ईसा की छठी शताब्दी बताता है। यह तो निश्चित है कि माघ श्री आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि ध्वन्यालोक की वृत्ति में[3] माघ के अनेक पद्य[4] उद्धृत हैं। अतः भवभूति और माघ दोनों से वामन परवर्ती है। कल्हण के—

१ देखो काव्यालङ्कार सूत्र अधिकरण ४ अध्याय ३।१०

२ देखो काव्यालं० सूत्र अ० ५।२।९।

३ देखो ध्वन्यालो पृ० ११४ और ११५।

४ देखो शिशुपालवध सर्ग ५।२६, ३।५३ इत्यादि।

'मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः'।

—राजत० ४।४९७

इस उल्लेख में वामन को काश्मीर के राजा जयापीड का मन्त्री बताया गया है। जयापीड का समय सन् ७७९–८१३ ई० है। मि० बूल्हर (Bulher) के मतानुसार जयापीड का मंत्री यही वामन था जिसने काव्यालङ्कार सूत्र प्रणीत किया है[१]। ऊपर के अवतरणों से भी इसका समर्थन होता है। अतएव वामन का समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित हो जाता है। और साथ ही उद्भट के समकालीन भी। तथापि यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि उद्भट और वामन दोनों समकालीन ही नहीं, एक राजा के आश्रित होने पर भी इन्होंने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे का कही भी नामोल्लेख नहीं किया है। काशिका वृत्ति के प्रणेता वामन से यह वामन भिन्न है।

वामन के काव्यालङ्कार सूत्र पर 'कामधेनु' नामक टीका गोपेन्द्र-त्रिपुरहर भूपाल की है, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। दूसरी एक साहित्यसर्वस्व नामक टीका महेश्वर-प्रणीत का पता भी चलता है[२]।

---

१ देखो श्री बूल्हर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५।

२ देखो इंडिया ओफिस केटलोग पृ० ३२१।

यहां तक भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन और इन पांचों के ग्रन्थों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण का समय उपलब्ध ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रारम्भ काल है और इनके पश्चात् भट्टि से वामन तक पांचों के समय तक अलङ्कार सिद्धान्त के क्रम विकास का द्वितीय काल है, क्योंकि इन पांचों में अन्तिम वामन के समय तक अलङ्कारों की संख्या ५२ तक पहुँच गई है। इन पांचों में किस-किस ने कितनी सख्या के कौन-कौन अलङ्कार निरूपण किये हैं; इसकी स्पष्टता के लिये अलङ्कार विवरण तालिका संख्या १ इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत दी गई है।

रुद्रट और उसका काव्यालङ्कार

रुद्रट का भी अलङ्कार शास्त्र में एक प्रतिष्ठित और उच्च स्थान है। रुद्रट साधारण विद्वान् नहीं था—इसने अलङ्कार विषय पर बड़ा चमत्कारक प्रकाश डाला है। इसके द्वारा अलङ्कारों के क्रम-विकास में उल्लेखनीय अभिवृद्धि दृष्टिगत होती है। इसके द्वारा केवल अलङ्कारों की सख्या में वृद्धि ही नहीं हुई किन्तु अलङ्कारो का अपूर्व शैली से प्रतिपादन भी हुवा है जिससे रुद्रट का इस विषय पर महत्वपूर्ण अधिकार भी व्यक्त होता है।

रुद्रट ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ लिखा है। जिसमें प्रायः काव्य के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में १६ अध्याय हैं जिनमें विषय-क्रम इस प्रकार है—प्रथमाध्याय में काव्य प्रयोजन, काव्य-हेतु; दूसरी में काव्य-लक्षण, रीति, वाक्य-लक्षण, भाषा-भेद वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालङ्कार; तीसरी में यमकालङ्कार, चौथी में श्लेषालङ्कार; पांचवी में चित्र-काव्य; छठी में शब्द-दोष, ७,८,९ और १० चार अध्यायों में अर्थालङ्कार; ११ वीं में अर्थालङ्कार-दोष; १२,१३,१४ और १५ चार अध्यायों में रस और नायिका भेदादि निरूपण है और १६ वीं में महाकाव्य, प्रबन्धादि का लक्षण है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भामहादि आचार्यों ने अलङ्कारों का जो पृथक्-पृथक् समूहों में वर्गीकरण किया है, वह किसी विशेष सिद्धान्त पर नहीं, संभवतः उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों में स्वीकृत अलङ्कारों की संख्या पर किया गया है। किन्तु रुद्रट ने उनका अनुसरण न करके वैज्ञानिक सिद्धान्त पर अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। इसने ५ शब्दालकार और ५८ अर्थालङ्कार निरूपण किये हैं। जिनमें अर्थालङ्कारों को इसने चार वर्गों में विभक्त किया है—(१) वास्तव वर्ग में २३, (२) औपम्य वर्ग में २१, (३) अतिशय वर्ग में १२ और (४) श्लेष वर्ग में १ श्लेष। इसप्रकार ५७ और १ संकर सब मिला कर ५८ अलङ्कारों में ७ अलङ्कार ऐसे हैं जो दो-दो वर्ग में एक ही नाम से दिखाये गये हैं—जैसे सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर यह तीनों वास्तव और अतिशय दोनों वर्गों में हैं, इसी प्रकार उत्प्रेक्षा एव पूर्व, औपम्य और अतिशय दोनों वर्गों में हैं। और

श्लेष को भी अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कार दोनों में पृथक्-पृथक् गिना गया है। यद्यपि एक ही नाम के जिन-जिन अलङ्कारों को दो-दो वर्ग में रुद्रट ने रक्खे हैं उनका वर्गानुकूल लक्षण लिख कर भेद दिखा दिया है। यदि इन आठों की सख्या कम कर दी जाय तो रुद्रट द्वारा ५० अर्थालङ्कार और ५ शब्दालङ्कार, कुल ५५ अलङ्कारों का नामोल्लेख है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भट्टि से वामन तक ५२ अलङ्कार निरूपित हो चुके थे, जैसा कि पहिले दिखाया गया है। किंतु इस सख्या द्वारा यह न समझना चाहिये कि रुद्रट निरूपित अलङ्कारों की संख्या उसके पूर्ववर्तियों से केवल ३ ही अधिक है। क्योंकि रुद्रट के निरूपित ५५ अलङ्कारों में केवल २६ अलङ्कार ही ऐसे हैं जो इसके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित हो चुके थे। शेष २९ ※ रुद्रट द्वारा अधिक (या नवाविष्कृत) निरूपित हैं। और उनमें बहुत से महत्वपूर्ण अलङ्कार रुद्रट के उत्तर-कालीन आचार्य मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने स्वीकार किये हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि रुद्रट ने अलङ्कारों के विकास-क्रम में एक बार ही नवीन युग उपस्थित कर दिया है।

रुद्रट का परिचय और समय

रुद्रट का व्यक्तिगत कुछ परिचय इसके काव्यालङ्कार पर नमि

※ इन २९ अलङ्कारों के नामों के लिये द्वितीय भाग में अलङ्कार विवरण तालिका देखिये।

साधु की लिखी हुई टीका द्वारा मिलता है। काव्यालङ्कार की पञ्चम अध्याय के चित्रकाव्य प्रकरण में १२, १३, १४ की सख्या के श्लोकों की टीका में नमि साधु ने यह दिखाया है कि इन पद्यों के चित्रकाव्य के अतर्गत—

शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसुनुना,
साधित रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्।

यह श्लोक निकलता है और इस श्लोक द्वारा रुद्रट ने अपना परिचय दिया है। इसके द्वारा केवल यह विदित हो सकता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानंद था और वह सामवेदी था तथा इसके पिता का नाम भट्ट वामुक था।

रुद्रट की अंतिम सीमा के लिये इसका नामोल्लेख और इसके ग्रन्थ के उद्धरण उत्तर कालीन अनेक आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य मम्मट ने श्लेष प्रकरण में कहा है—'तथा ह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालङ्कारौ', इत्यादि (काव्यप्रकाश ९।८५ पृ० ५३०) और रुद्रट के स्वीकृत उपमानाधिक्यव्यतिरेक अलङ्कार की मम्मट ने आलोचना भी की है†। तथैव काव्यप्रकाश में यमकादि अलङ्कारों के बहुत से उदाहरण भी रुद्रट के लिये गये हैं।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने रुद्रट को—'यस्य विकारः प्रभवन्' इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।३८) यह परिभाषा और 'एकाकिनी यदवला' इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।४१) यह उदाहरण उद्धृत किया

† देखो काव्यप्रकाश उ० १० पृ० ७८४।

है[1]। श्री भोजराज ने रुद्रट के—'किं गौरि मा प्रति रुषा ननु गौरहं किं' इत्यादि पद्य[2] और इसके सिवा २० अन्य भी पद्य उदाहरणों में उद्धृत किये हैं। राजशेखर ने भी लिखा है—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोयम्, इति रुद्रटः' और 'चक्रं दहतारं-चक्रं दहतारं' इत्यादि पद्य भी (काव्यालङ्कार ३।४), काव्यमीमासा मे (पृ० ५,७) उद्धृत है। प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसग्रह की लघुवृत्ति में रुद्रट के बहुत से पद्य उद्धृत किये हैं, यद्यपि उसने रुद्रट का नामोल्लेख नहीं किया है, पर वे काव्यालङ्कार से लिये गये हैं[3]।

इन आधारों पर प्रतिहारेन्दुराज तक (लगभग सन् ९०० ई० तक) रुद्रट की अन्तिम सीमा का पता चलता है। किन्तु रुद्रट की पूर्व सीमा के लिये न तो उसने काव्यालङ्कार में अपने किसी पूर्ववर्ती का नामोल्लेख ही किया है और न किसी ग्रन्थ के उदाहरण ही लिये

---

१ देखो ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या पृ० ४५।

२ देखो काव्यालङ्कार २।१५ और सरस्वती कण्ठाभरण वक्रोक्ति का उदाहरण।

३ 'उपसर्जनोपमेय' इत्यादि (लघुवृत्ति पृ० ११। 'वस्तुप्रसिद्धमिति' इत्यादि (ल० पृ० ३३। 'त्वयिदृष्ट एवतस्या' इत्यादि (ल० पृ० ३६।) 'तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा' इत्यादि (ल० पृ० ४५)। लघुवृत्ति में उद्धृत हैं, वे काव्यालङ्कार में क्रमशः ८।४०,८।८९, ८।९५,७।३५, संख्या के हैं। इनके सिवा और भी लिये गये हैं।

हैं—सम्भवतः इसने स्वयं प्रणीत उदाहरण दिखलाये हैं। ऐसी अवस्था में इसकी पूर्व सीमा के लिये इसके द्वारा निरूपित अलङ्कारों के क्रम-विकास का ही ऐसा आधार है, जिसके द्वारा रुद्रट की पूर्व सीमा की कल्पना की जा सके। यह कह चुके हैं कि इसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों से २९ अलङ्कार नवीन निरूपण किये हैं और उनका अपूर्व वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। और इसके सिवा 'वक्रोक्ति' जिसको भामह ने एक विशेष अलङ्कार नहीं, किन्तु—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना'॥

—काव्यालङ्कार २।८५

यह कह कर वक्रोक्ति की सभी अलङ्कारों में व्यापकता बताई है, और दण्डी ने स्वभावोक्ति को छोड़ कर सभी अलङ्कारों का सामूहिक नाम वक्रोक्ति बताया है—(का० द० २।३६३) और वामन ने अर्थालङ्कारों में वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार प्रदर्शित करके भी परिभाषा में जिसे स्पष्ट सादृश्य-लक्षणा के आश्रित लिखा है। किंतु अग्निपुराण के पश्चात् रुद्रट ही प्रथम है, जिसने वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार इसका यथार्थ प्रतिपादन करके इस वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों के प्रारम्भ में ही प्रधान स्थान दिया है। और इसका अनुसरण रुद्रट के उत्तरकालीन प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने किया है। यह नवीनताएं हमें बलात् रुद्रट को भट्टि, भामहादि पूर्वोल्लिखित पांचों

आचार्यों के पश्चात् किन्तु अन्य मम्मट, अभिनवगुप्त और मुकुल आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के प्रथम स्वीकार करने के लिये बाध्य करती हैं। क्योंकि इसके ग्रन्थ—काव्यालङ्कार द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि ध्वनि सम्प्रदाय से—जिसके प्रवर्तक ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य है, रुद्रट सर्वथा अपरिचित था। अतएव रुद्रट का समय श्री आनन्दवर्धनाचार्य से (जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है) कुछ ही उत्तरवर्ती या समकालीन एवं प्रतिहारेन्दुराज (सन् ९०० ई०) आदि से पूर्व—सम्भवतः नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतीत होता है। रुद्रट का समय डा० बूल्हर (Bulher) ने ईसा की ग्याहरवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है[1] वह सर्वथा भ्रमात्मक है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

अच्छा, अब रुद्रट के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि यह रुद्रट और वह रुद्र (अथवा रुद्र भट्ट) जो श्रृङ्गारतिलक ग्रन्थ का प्रणेता है क्या एक ही है? मि० पिशल, वेबर, औफ्रेस्ट और बूल्हर ने इनको एक ही बतलाया है। किन्तु यह उनका भ्रम है—जैसा कि स्थूल-दृष्टि से आपाततः होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि रुद्रट के काव्यालङ्कार में रस प्रकरण को जो परिभाषाएं आदि दी हैं, उनकी रुद्र के श्रृङ्गारतिलक में अधिकतया समानता दृष्टिगत होती है। किन्तु इस समानता

१ काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५।

पर विचार करने के प्रथम हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानने के कारण दिखाते हैं—इनके ग्रन्थों में अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनके द्वारा इनमें भिन्नता स्पष्ट विदित हो जाती है, देखिये—

(१) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नौ ही रसों का उल्लेख किया है (शृं० ति० ११९), पर रुद्रट दशवां एक प्रेयस् रस भी (काव्यालं० १२।३) लिखता है। और दोनों ग्रन्थों में रसों का वर्णन-क्रम भी सर्वथा भिन्न है।

(२) रुद्र ने भावों की गणना (१।१०—१६) विस्तृत रूप में की है किन्तु रुद्रट ने इनको एक ही पद्य में (१२।४) कह दिया है।

(३) रुद्र ने भरत के मतानुसार साधारणतः कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती चार ही वृत्ति लिखी है, पर रुद्रट कुछ-कुछ उद्भट का अनुसरण करता हुआ मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पांच वृत्ति निरूपण करता है, जिनका उपर्युक्त चारों से कुछ सम्बन्ध नहीं है। और इनको श्रवण-सुखद बताता हुआ अनुप्रास के अन्तर्गत दिखाता है।

(४) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नायिकाओं की आठ अवस्था निरूपण की है, किन्तु रुद्रट केवल चार अवस्थाओं का ही (१२।४१) उल्लेख करता है। यद्यपि काव्यालङ्कार में १२।४० और १२।४१ के मध्य में १४ आर्यावृत्तों में नायिकाओं की आठ अवस्थाओं का वर्णन है,

पर वह प्रक्षिप्त है, जो कि ग्रन्थ-क्रम से निस्सन्देह स्पष्ट निश्चित होता है और मुद्रित पुस्तक में भी प्रक्षिप्त लिखा हुआ है।

(५) शृङ्गारतिलक के अन्तिम आर्यावृत्त में स्वयं ग्रन्थकर्ता अपना नाम रुद्र बताता है—

'त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तदेवनताम्।
शृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति'।

इत्यादि अन्य भी ऐसे स्थल हैं, जिनके द्वारा स्पष्ट ही रुद्रट और रुद्र एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते। और इनमें जो ऐक्य दृष्टिगत होता है, वह उन्हीं कुछ पद्यों में है, जिनमें परिभाषा या नियमों का उल्लेख है। वह सभवतः रुद्र द्वारा, जो रुद्रट का परवर्ती है, रुद्रट से लिये गये हैं। रुद्रट ने रस की परिभाषाएं मात्र दी हैं—पर अन्य वर्णित विषयों की स्पष्टता उदाहरण सहित की है, अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि इसी त्रुटि को पूर्ण करने के लिये रुद्र ने रुद्रट की रस विषयक परिभाषाए लेकर और स्वतः प्रणीत नवीन उदाहरण देकर सम्भवतः शृङ्गारतिलक की रचना की हो। परिभाषाएं अन्य के ग्रन्थों से लेने की परिपाटी तो दण्डी के समय से ही आचार्य मम्मट के बाद तक प्रचलित दृष्टि-गत होती है। इस विषय में इस सभावना के लिये स्थान नहीं है कि इस त्रुटि को पूर्ण करने वाला रुद्रट ही क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि ऊपर जो इन दोनों के विचारों में महत्वपूर्ण विभिन्नता दिखाई गई हैं, वे इनके एकी-करण के प्रबल विरुद्ध हैं।

शृङ्गारतिलक के प्रणेता रुद्र के समय की अन्तिम सीमा के लिये आधार यह है कि शृङ्गारतिलक (१।४१ पृ० १२०) का—'सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्तकान्ता' इत्यादि पद्य विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश तंत्र में उद्धृत किया है। विष्णु शर्मा कुट्टनीमत के लेखक दामोदर गुप्त के बाद का है। क्योंकि कुट्टनीमत का 'पर्यङ्क. स्वास्तरणः' इत्यादि (संख्या ७९९) पद्य पञ्चतन्त्र के प्रथम तंत्र में उद्धृत है। दामोदर गुप्त काश्मीर के राजा जयापीड का मंत्री था*। जयापीड का समय सन् ७५५–७८६ ई० है। और शृङ्गारतिलक के प्रारंभ के 'शृङ्गारीगिरिजानने....' इस पद्य को हेमचन्द्र ने (पृ० ११० में) उद्धृत करके उसकी आलोचना की है। अतः इसका समय दामोदर गुप्त और नवीं शताब्दी के रुद्रट के बाद और १२ वीं शताब्दी के हेमचन्द्र से पूर्व है।

रुद्रट के ग्रन्थ पर नमि साधु की केवल एक ही टीका मुद्रित है। नमि साधु श्वेताम्बर जैन भिक्षुक था और शालिभद्र का शिष्य था। उसने टीका का समय ग्रन्थान्त में विक्रमाब्द ११२५ (१०६९ ई०) लिखा है—

'पञ्चविंशति संयुक्तैरेकादशसमाशतैः।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्'।

इस पर एक टीका वल्लभदेव की भी है—जो नमि साधु से प्राचीन है। किन्तु वह अनुपलब्ध है। वल्लभदेव ने माघ की टीका में

---

* देखो राजतरङ्गिणी ४।४९५।

(४।२१ और ६।२८ में) स्पष्ट किया है कि वह राजानक आनन्ददेव का पुत्र काश्मीरी था। इसने कालिदास, और रत्नाकर आदि के ग्रन्थों पर भी टीकाएं लिखी है। इसका समय संभवतः दशमी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इसके पौत्र कैय्यट ने आनन्दवर्धनाचार्य के देवीशतक पर सन् ९७७ ई० में टीका लिखी है। यह वल्लभदेव सुभाषितावली के लेखक १६ वी शताब्दी के वल्लभदेव से भिन्न है।

ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य और उनका ध्वन्यालोक

'ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः'।

—राजशेखर।

ध्वन्यालोक के कारिकाकार अज्ञातनामा ध्वनिकार और वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य का स्थान भामह आदि साहित्याचार्यों में सर्वोच्च और महत्वपूर्ण है। इन्होंने साहित्य-संसार में वस्तुतः युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इनके प्रथम भामह आदि द्वारा सभी ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का ही सर्वत्र प्राधान्य था। रीति को प्रधानता देने वाला वामन भी अलङ्कारों को गुणों के—जिन पर रीति-सिद्धान्त अवलम्बित

है—अतिशय-कारक स्वीकार करता है। किन्तु ध्वनिकारों ने ध्वनि सिद्धांत का अपूर्व प्रतिपादन करके केवल अलङ्कार सिद्धांत को ही नहीं काव्य के अन्य सभी सिद्धांतों की प्रधानता को दबाकर काव्य में ध्वनि का ही सर्वत्र साम्राज्य स्थापन कर दिया है। यहा तक कि रस-सिद्धात की—जिसको महामुनि भरत ने सर्व प्रधान बताया है, इन्होंने—प्रधानता स्वीकार करते हुए भी अपनी अपूर्व प्रतिभा के महत्वपूर्ण विवेचन द्वारा बड़ी मार्मिकता से उसे ध्वनि के ही अन्तर्गत ही ध्वनि का एक प्रधान भेद स्पष्ट रूप से—प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिये ध्वन्यालोक का साहित्य शास्त्र में सर्वोच्च स्थान है। यह ग्रन्थ कतिपय उन ग्रन्थों में है जिनमे यथार्थ मौलिकता का सार्वत्रिक साम्राज्य है। इस ग्रन्थ के सिद्धांतों को प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने बड़े सन्मान के साथ मान्य किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी—जिन्होंने प्रायः सभी साहित्याचार्यों की लगे हाथ बड़ी तीव्र आलोचना की है—ध्वन्यालोक के सिद्धात सादर मान्य किये हैं, यही नही, किंतु—'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्' (रसगङ्गाधर पृ० ४२५) यह कह कर ध्वनिकारों के सिद्धांतों को आदर्श रूप भी स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं, उनमें १२९ कारिकाएं हैं। और वृत्ति में अत्यन्त महत्वपूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक विवेचन द्वारा ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यमाला में निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित हुआ है। मुद्रित ग्रन्थ मे तीन उद्योतों पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या है और चतुर्थ उद्योत

मूल मात्र है। इसका प्रधान विषय निरूपण इस प्रकार है—

(१) प्रथम उद्योत की २२ कारिकाओं में ध्वनि की स्थापना की गई है।

(२) द्वितीय उद्योत की ३६ कारिकाओं में ध्वनि के भेद—अविवक्षित वाच्य, विवक्षित वाच्य आदि, रसवदादि अलङ्कार, माधुर्यादि तीन गुण, श्रुतिकटु आदि कुछ दोष, ध्वन्यात्मभूत अलङ्कार, अनुकरणात्मक ध्वनि, अलङ्कारध्वनि और ध्वन्याभास आदि निरूपण है।

(३) तृतीय उद्योत में ५४ कारिकाओं में पद-वाक्य-व्यञ्जकता, सघटना, रसौचित्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य, वाच्यालकार और ध्वनि-ससृष्टी का निरूपण है।

(४) चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकाओं में ध्वनि का उत्कर्ष और काव्य-मार्ग का आनत्य प्रदर्शित किया गया है।

ध्वन्यालोक के लेखक

ध्वन्यालोक की रचना में तीन अंश हैं—मूल कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो तत्कालिक प्रचलित प्रथानुसार प्रायः ग्रन्थान्तरों के उद्धृत हैं। किन्तु कारिका और वृत्ति के प्रणेता के विषय में यह एक जटिल प्रश्न है कि कारिका और वृत्ति दोनों का प्रणेता एक ही है, या दो भिन्न भिन्न? इस विषय में ध्वन्यालोक के उत्तर कालीन ग्रन्थकार—जिन्होंने इस ग्रन्थ की कारिकाएँ और

वृत्तियों के उद्धरण अथवा इसके सिद्धांत उद्धृत किये हैं, वे दो समूहों में विभक्त हैं। एक समूह के द्वारा कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता प्रतीत होती है और दूसरे समूह द्वारा इनका एकीकरण ज्ञात होता है।

इस विषय में अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों के प्रथम इस ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उपलब्ध आधारो पर विचार किया जाता है, तो मुद्रित ग्रन्थ के सम्पादकीय वक्तव्य द्वारा विदित होता है, कि इसके प्रकाशक महाशयों ने तीन हस्तलिखित प्रति सग्रह की थीं, उनमें काश्मीर और पूना के भण्डारकर लाइब्रेरी की दोनों प्रतियों में वृतिकार के अन्तिम दो श्लोकों के प्रथम—

'इत्यानन्दवर्धनाचार्यविरचिते सहृदयालोके काव्यालङ्कारे ध्वनि प्रतिपादने चतुर्थ उद्योतः समाप्तः'।

यह लेख अधिक है। और तीसरी प्रति, जो माइशोर की ताडपत्र पुस्तक की प्रतिलिपि है, उसके अन्त मे—

'इति श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचिते
सहृदयालोक नाम्नि काव्यालङ्कारे चतुर्थः उद्योतः'

यह लेख है। और मुद्रित पुस्तक में भी ग्रन्थ समाप्ति पर अन्तिम श्लोक के प्रथम श्लोक में—

'काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः'।

यह कहा गया है। तथा 'लोचन' व्याख्या के प्रारंभ में अभिनव-गुप्ताचार्य ने भी प्रथम पद्य में—

'सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयताख्यं विजयताम्'।

और दूसरे पद्य में—

'यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामिकाव्या-
लोकं सुलोचननियोजनया जनस्य'।

ऐसा लिखा है। इसके सिवा तृतीय उद्योत की ५३ वीं मूल कारिका में भी कहा है—

'शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपरा।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन्काव्यलक्षणे'॥

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' टीका में भी—

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात्सहृदयालोकलोचनावधारणीयम्'
(अ०भा० पृ० ३४४)

इन वाक्यों द्वारा अनुमान होता है कि कारिकात्मक मूल-ग्रन्थ का नाम संभवतः 'सहृदय' या 'काव्यध्वनि' अथवा केवल 'काव्य' या 'ध्वनि' रहा हो। और उन पर वृत्ति लिख कर श्री आनन्दवर्धना-चार्य ने वृत्ति की सज्ञा 'आलोक' रख कर इसको सहृदयालोक या

'काव्यालोक' अथवा 'ध्वन्यालोक' संज्ञा प्रदान की हो। अभिनव-भारती में 'सहृदयालोक' नाम के सिवा 'ध्वन्यालोक' का नामोल्लेख भी है—'यदाह–'या व्यापारवती रसान्रसयितुं' इत्यादि ध्वन्या ३' (अ०भा० पृ० ३०१)।

जो कुछ हो, यह तो निस्सन्देह है कि 'सहृदय' के साथ ध्वन्यालोक ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रणेता के रूप में या ग्रन्थ-संज्ञा के रूप में अवश्य है। क्योंकि 'अभिधावृत्तिमातृका' का लेखक मुकुल—जो अभिनवगुप्ताचार्य के पूर्ववर्ती है, जिसका समय लगभग सन् ९२५-९४० ई० है, उसने भी लिखा है—

(१) 'तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपितः' (अ० मा० पृ० १९)

(२) 'लक्ष्णामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति'। (अ० मा० पृ० २१)

और मुकुल के शिष्य, उद्भट पर लघुवृत्ति के लेखक प्रतिहारेंदुराज ने भी कहा है—

'ननु यत्र काव्ये ....काव्यजीवितभूतः कैश्चित्सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः'। (काव्यालं० सारसंग्रह पृ० ८५ बोंबे सीरीज)

इन वाक्यों द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है कि 'सहृदय' से ध्वनि विष-

यक नवीन सिद्धांत का संबंध अवश्य था। संभव है लेखक के नाम से ही इस ग्रन्थ को 'सहृदय' संज्ञा दी गई हो।

लोचन व्याख्या के लेखक अभिनवगुप्ताचार्य, कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न भिन्न मानते हैं—

'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिका-कारोनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति'।
(ध्व० टीका पृ० १२२)

केवल यही नहीं और भी अनेक स्थलों पर (ध्व० टीका पृष्ठ १, ८, ५९, ६०, ७१, १०४ आदि में) लोचन में कारिकाकार और वृत्ति-कार की पृथक्ता दिखाई है। यही क्यों, और देखिये—

'एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेणतुदर्शितं'।
(ध्व० टी० पृ० १२३)

'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेकउक्तः·······। वृत्तिकारेणतु अन्वयपूर्वकोव्यतिरेकइतिशैलीमनुकर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः'।
(ध्व० टी० पृ० १३०-३१)

इत्यादि अनेक स्थलों पर लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार की लेखन शैली में स्पष्टतया भेद प्रदर्शित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस विषय में ध्वन्यालोक मूल ग्रन्थ में भी एक स्थान पर एक संकेत दृष्टिगत होता है। तृतीय उद्योत की छठी कारिका की वृत्ति में कहा गया है कि अव्युत्पत्ति कृत दोष कवि की प्रतिभा द्वारा

कहीं कहीं छिप जाता है, इसके उदाहरण में महाकवि कालिदास द्वारा कुमारसभव में वर्णित संभोगश्रृङ्गार का उल्लेख है। और इस विषय का निरूपण आगे कारिका ग्रन्थ में भी है, इसलिये वृत्तिकार ने लिखा है—'दर्शितमेवाग्रे' (ध्वन्या० पृ० १३८)। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि यदि वृत्तिकार ही कारिकाओं का प्रणेता होता तो वह 'दर्शित' इस प्रकार भूतकालिक प्रयोग-आगे दिखाये जानेवाले प्रकरण के लिये, न करके, भविष्य-कालिक प्रयोग करता अर्थात् यह कहता कि 'आगे दिखाया जायगा'। किन्तु प्रतीत होता है कि कारिकाएँ उनके पूर्ववर्ती लेखक की थीं इसीलिये उस भूतकाल के लेखक के लिये 'दर्शितं' का प्रयोग किया गया है। और लोचन में भी 'दर्शितमग्रे' की व्याख्या में स्पष्ट यही लिखा हुआ है कि—'दर्शितमग्रे कारिकाकारेण'। निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक के उपलब्ध अन्तरङ्ग संदिग्ध संकेतों द्वारा तथा प्रतिहारेंदुराज के और अभिनवगुप्ताचार्य के वाक्यों द्वारा वृत्तिकार श्री आनदवर्धनाचार्य से ध्वनि-कारिकाकार भिन्न प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त राजशेखर भी—

> 'प्रतिभा श्रेयसी' इति आनन्दः··· · तदाहुः—
> अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या सम्व्रियते कवे।
> यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटत्यवभासते* ॥
> (काव्य मी० पृ० १६)

---

* यह पद्य ध्वन्यालोक की वृत्ति में (पृ० १३७) परिकर श्लोक के नाम से लिखा गया है।

इस उल्लेख द्वारा आनंदवर्धनाचार्य को वृत्तिकार बताता है। अच्छा, जब कि उपर्युक्त आधार कारिका के प्रणेता ध्वनिकार और वृत्ति के लेखक श्री आनदवर्धनाचार्य को—दो भिन्न-भिन्न, स्वीकार करने के लिये मिलते हैं, तब दूसरी ओर इन दोनों का एकी-करण जिनके द्वारा प्रतीत होता है ऐसे उल्लेख भी बहुत से दृष्टिगत होते हैं। जैसे—

(१) रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध ने (१२६५ ई०) रुय्यक के पूर्ववर्ती, काव्यशास्त्र के पांच सिद्धांतों के प्रवर्तकों का उल्लेख करते हुए आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि सिद्धांत का प्रवर्तक बताया है[1]।

(२) जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली में कुछ पद्य संदिग्धतया राजशेखर के नाम से उद्धृत किये हैं उनमें—

'ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना ।
आनंदवर्द्धनः कस्य नासीदानंदवर्द्धनः'[2] ॥

इस पद्य में आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि-प्रवर्तक बताया है।

(३) महिमभट्ट ने (१०७५ ई०) ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति दोनों ध्वनिकार के नाम से उद्धृत की हैं, जैसे—

---

१ देखो अलङ्कारसूत्र त्रिवेन्द्रम संस्क० पृ० ९

२ देखो जर्नल ओफ बोंबे ब्रांच रायल एसियाटिक सोसाइटी पुस्तक १७ पृ० १३७।

'यथार्थः शब्दो वा' इत्यादि कारिका १।१३ ध्वन्या० पृष्ठ ३३ और व्यक्तिविवेक पृष्ठ १।

'सारभूतोह्यर्थः स्वशब्देनाभिधेयत्वेन' वृत्ति ध्वन्या० पृ० २३९, व्यक्तिविवेक पृ० १२।

(४) राजानक कुन्तक ने भी (लगभग ९५० ई०) 'ताला जाअंति गुणा जालादे सहि अएहि घेप्पति'। इस पद्य को—जिसे ध्वन्यालोक (पृ० ६२) में श्री आनदवर्धनाचार्य ने वृत्ति में स्वप्रणीत विषमबाण लीला का बताया है, ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है—'ध्वनिकारेण ·· समर्थितः' (वक्रोक्तिजीवित २।२६ पृ० ७०) अर्थात् वृत्ति ग्रन्थ के लेखक का ही ध्वनिकार के नाम से उल्लेख करता है।

(५) प्रतिहारेंदुराज (लगभग ९५० ई०) द्वारा दिये गये एक उद्धरण का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसने उसी प्रकरण में ध्वनि सिद्धांत की विस्तृत आलोचना भी की है[१]। जिसमें ध्वन्यालोक के वृत्तिकार को भी 'सहृदय' ही सज्ञा दी है। यहा तक कि ध्वन्यालोक वृत्ति मे—'सर्वैकशरण-मक्षयमधीशं धियां हरिं कृष्णम्'। इत्यादि पद्य—जिनको आनदवर्धनाचार्य ने 'यथाममैव' अर्थात् स्वय प्रणीत स्पष्ट

---

१ देखो काव्यालङ्कारसारसंग्रह बोंबे सीरीज संस्करण पृ० ८५ ९२ तक।

बताये हैं, उनका भी उल्लेख उसने 'सहृदयैः'[१] कह कर ही किया है।

(६) क्षेमेन्द्र ने भी (१०७५ ई०) ध्वन्यालोक की 'अविरोधी विरोधी वा' इत्यादि मूल कारिका (३।२४ पृ० ११२) को, 'तदुक्त आनदवर्द्धनेन'[२] कहकर उद्धृत की है। अर्थात् क्षेमेंद्र श्री आनंदवर्धनाचार्य को ही कारिकाकार के निर्माता के रूप मे उल्लेख करता है।

(७) हेमचद्र ने भी (लगभग ११२५ ई०), 'प्रतीयमानं पुनरन्य-देव' इत्यादि मूल कारिका (ध्वन्या० १।४ पृ० १४) को विवेक में (पृ० २६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य के नाम से, और काव्यानुशासन (पृ० ११३, २३५) में—'विनयोन्मुखी-कर्तुं' (ध्वन्या० ३।३० पृ० १७९) और 'अर्थान्तर गतिः काक्वा' (ध्वन्या० ३।३९ पृ० २१२) इन दोनों कारिकाओं को ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है। अर्थात् इसने श्री आनन्दवर्धनाचार्य और ध्वनिकार को एक ही माना है।

उपर्युक्त आचार्यों के उत्तरकालीन ग्रन्थों के उल्लेख इस विषय मे उद्धृत करना अनावश्यक हैं, जब कि ध्वन्यालोक के निकटवर्ती उक्त ग्रन्थकारों का ही एक मत नहीं है, जैसा कि ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट है। तथापि पूर्वोक्त एक से चार तक के लेखको की लेखन-

---

१ देखो काव्यालंकारसारसंग्रह बोंबे सीरीज पृ० ९०।

२ देखो औचित्यविचार चर्चा पृ० १३४।

शैली में कुछ भिन्नता प्रतीत होने पर भी वस्तुतया मतैक्य ही है। क्योंकि प्रथम के दोनों—समुद्रबन्ध और जल्हण ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को ध्वनि का प्रवर्तक और तीसरे ने—महिमभट्ट ने—वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार और चौथे ने—कुन्तक ने—वृत्ति और कारिका दोनों के लेखक को ध्वनिकार संज्ञा प्रदान की है अर्थात् इन चारों ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को केवल ध्वनि का प्रवर्तक या ध्वनिकार बताया है, न कि कारिकाकार। अतएव इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे आनन्दवर्धनाचार्य को कारिकाकार बताते हैं, अथवा कारिकाकार और वृत्तिकार को एक मानते हैं।

अच्छा, अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि प्रवर्तक या ध्वनिकार नहीं हैं? क्या केवल कारिकाकार ही इस उपाधि का एक मात्र अधिकारी है? यदि वस्तुतः देखा जाय तो ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक तो कारिकाकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य दोनों ही नहीं कहे जा सकते हैं, जब कि ध्वनिसिद्धांत इन दोनों ही के प्रथम भी प्रचलित था, जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रारम्भ ही में—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरीतिबुधैर्यः समाम्नात पूर्वः' (पृ० २)

इस कारिका में और इसकी वृत्ति में—

'बुधै काव्यतत्वविद्भिः काव्यस्यात्माध्वनि-
रिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नतः'

(पृ० ३)

यह कहा गया है। और इससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक के पूर्व भी ध्वनि विषय पर अनेक विद्वानों द्वारा विवेचन किया गया है। किन्तु संभवतः इस सिद्धांत को स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में सम्बद्ध इसके पूर्व किसी के द्वारा नहीं किया गया था। जैसा कि इस कारिका और वृत्ति की व्याख्या लोचन में कहा गया है—'विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः' (ध्वन्या० टीका पृ० ३) इसके द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि पूर्व विद्वानों के ध्वनि सिद्धांत विषयक वाक्य यत्र तत्र बिखरे हुए थे, सबसे प्रथम कारिकाकार ने ही स्वतंत्र-ग्रन्थ रूप में ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है इसीलिये कारिकाकार को ध्वनि-प्रवर्तक कहा जाता है, यद्यपि उसने वस्तुतः पूर्व के ध्वनि सिद्धांतवादियों का प्रतिनिधित्व ही किया है। सत्य तो यह है कि यदि इन अल्पसख्यक कारिकाओं पर श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विवेचनात्मक गभीर एवं ओजपूर्ण विस्तृत वृत्ति न लिखी जाती तो क्या यह सभव था कि इस ग्रन्थ की केवल मूल कारिकाओं द्वारा इस सिद्धात को इतना महत्व प्राप्त हो सकता ? ऐसी परिस्थिति में जिस श्री आनन्दवर्धनाचार्य की वृत्ति द्वारा साहित्य क्षेत्र में ध्वनि सिद्धांत अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सका है, वह वृत्तिकार क्या कारिकाकार के समान ध्वनि-प्रवर्तक अथवा ध्वनिकार की उपाधिका अधिकारी नहीं ? यदि ऐसा माना जाता तो वस्तुतः श्री आनन्दवर्धनाचार्य के साथ कृतघ्नता होती, किन्तु कृतज्ञ विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों हो सकता था, इसीलिये उन्होंने ध्वनिकार की उपाधि से श्री आनन्दवर्धनाचार्य को भी विभूषित करके अपना कर्तव्य पालन किया है। इसी को लक्ष्य में रख कर आचार्य मम्मट ने भी

दोनों के लिये ही 'ध्वनिकार' का प्रयोग किया है, जब कि उसने—'व्यञ्जन्ते वस्तुमात्रेण ···· ' इति 'ध्वनिकारोक्तदिशा' (का० प्र० पृ० २५५) और 'तदुक्तं ध्वनिकृता—सगुणीभूतव्यङ्ग्यै ···· ' (का० प्र० पृ० २५७) इन कारिकाओं के साथ ध्वनिकार का नामोल्लेख किया है, तब उसीप्रकार ध्वन्यालोकके 'अनौचित्यादृते नान्यद् ··· ' (काव्यप्रकाश पृ० ५४०) इस (ध्वन्या० पृ० १४५) वृत्तिगत पद्य का भी ध्वनिकार के नाम से उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट के विषय में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह कारिका और वृत्ति का लेखक एक ही समझता था क्योंकि जिस अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में कारिकाकार और वृत्तिकार को स्पष्टतया भिन्न बताया है, (जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है) उस (अभिनव०) से आचार्य मम्मट केवल परिचित ही नहीं था, किंतु वह (मम्मट) अभिनवगुप्ताचार्य को सभवतः अपना आचार्य भी व्यक्त करता है। अतएव इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि आचार्य मम्मट ने यह जानते हुए भी कि—कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न भिन्न हैं, दोनों के लिये 'ध्वनिकार' उपाधि का प्रयोग किया है। अतएव अन्य लेखकों द्वारा भी ऊपर के अवतरणों में ऐसा उल्लेख किया जाना कोई आश्चर्य-कारक नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊपर के पांचवी सख्या के प्रतिहारेन्दुराज द्वारा 'सहृदय' का प्रयोग भी 'सहृदयैः' बहुवचन में किया गया है, न कि 'सहृदयेन' इसप्रकार एक वचन से अर्थात् ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्द-वर्धनाचार्य दोनों के लिये ही है। अतएव इन पाचो के द्वारा किये

गये उल्लेख का तो इसप्रकार समाधान हो जाता है। अब रहे छठे और सातवें—क्षेमेन्द्र और हेमचन्द्र, इनके द्वारा यद्यपि कारिकाओं के साथ श्री आनदवर्धनाचार्य का नामोल्लेख किया गया है, किन्तु प्रतीत होता है कि इसप्रकार के उल्लेख करने वाले ग्रन्थकर्ताओं द्वारा कारिका और वृत्ति के लेखक के विषय में सूक्ष्म विचार नहीं किया गया है और न उन्हें इस पर विचार करने की आवश्यकता ही थी, ऐसे लेखकों को तो ध्वन्यालोक के सिद्धान्त अपने ग्रन्थ में उद्धृत करना मात्र ही अभीष्ट था—न कि उसके लेखक के विषय में निर्णय करना। एतावता इनके उल्लेखो द्वारा ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के लेखक के निर्णय के लिये कुछ सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसी अवस्था में ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार कारिका और वृत्ति के भिन्न भिन्न लेखक स्वीकार किया जाना ही उचित है।

अच्छा, अब एक प्रश्न यह होता है कि ध्वन्यालोक का कारिकाकार, श्री आनन्दवर्धनाचार्य से भिन्न है, तो वह कौन है? इसके लिये कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। यदि ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उल्लेख द्वारा—जैसा कि ऊपर अनुमान किया गया है, 'सहृदय' को कारिकाकार कल्पना किया जाय तो इसमें भी एक प्रबल विरोध है—अभिनवगुप्ताचार्य ने 'सहृदय' पद की व्याख्या में कहीं भी कारिकाकार से सम्बन्ध प्रदर्शित नही किया है, किंतु 'सहृदय' की स्पष्टता यही की है—

'ये तादृशमपूर्वकाव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः'
(ध्वन्या० लोचन पृ० ७)

और कारिका के प्रणेता के लिये अज्ञातनामा 'कारिकाकार' का ही प्रयोग किया है, अतएव यह प्रश्न निरुत्तर ही रहता है।

ध्वन्यालोक का समय

ध्वन्यालोक की कारिका के लेखक ध्वनिकार के समय पर तो अधिक क्या कहा जा सकता है, जब उसका नाम ही निश्चित नहीं है, केवल यही अनुमान हो सकता है कि कारिकाकार संभवतः श्री आनंदवर्धनाचार्य से २ या ३ शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय, और ध्यान दिया जाना उचित भी है, कि ध्वनि-सिद्धांत को पूर्ण महत्व श्री आनदवर्धनाचार्य द्वारा वृत्ति लिखे जाने पर उपलब्ध हुआ है, तो यह भी संभव है कि कारिका ग्रन्थ भामह और दण्डी आदि के समकालीन या उनके निकटवर्ती कुछ आगे पीछे लिखा गया है, क्योंकि ध्वनि के विषय में भामहादि द्वारा कुछ भी सकेत नहीं किया गया है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य
का
परिचय और समय

वृत्तिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य का व्यक्तिगत परिचय, ध्वन्यालोक की एक हस्तलिखित प्रति—जो इण्डिया औफिस मे है, उसके तृतीय

उद्योत के अन्त में यह मिलता है कि वह अपने पिता का नाम लोडोपाध्याय या चौथे उद्योत के अन्तिम पद्य में जोलोपाध्याय बतलाते हैं[1]। किन्तु श्री आनंदवर्धनाचार्य के देवीशतक के १०१ की संख्या के श्लोक द्वारा यह 'नोणा' के पुत्र प्रतीत होते हैं[2]। और लोडोपाध्याय एवं जोलोपाध्याय के उल्लेख का कारण लिपिभ्रम प्रतीत होता है।

श्री आनदवर्धनाचार्य का समय तो सरलता से निश्चित हो जाता है। कल्हण ने लिखा है—

> "मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः,
> प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणि'।
>
> —राजतरङ्गिणी ५।३४

इसके अनुसार श्री आनदवर्धनाचार्य काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के राज्य-काल में (सन् ८५७-८८४ ई०) विद्यमान थे। और लगभग सन् ९२५ ई० के राजशेखर ने काव्यमीमासा में इनका नामोल्लेख किया है। और श्री आनदवर्धनाचार्य ने लगभग सन् ८०० ई० के लेखक आचार्य उद्भट का ध्वन्यालोक वृत्ति में उल्लेख किया है।

---

१ देखो मुद्रित ध्वन्यालोक का संपादकीय लेख—एतत्पितुश्च 'नोण' इति नामासीदित्येतत्प्रणीतदेवीशतकतो बुध्यते।

२ देखो श्री काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृ० ६९।

जैसा कि उद्भटाचार्य के निबन्ध में पहिले दिखा चुके हैं—अतः श्री आनदवर्धनाचार्य का समय संभवतः सन् ८०० से ८८४ ई० के मध्य में सन् ८५० ई० के लगभग है।

श्री आनदवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति के अतिरिक्त और भी कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अर्जुनचरित्र तथा विषमवाण लीला का नामोल्लेख इन्होंने स्वयं ध्वन्यालोक की वृत्ति में किया है[1]। इनका देवीशतक तो काव्यमाला में मुद्रित भी हो गया है। और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' की टीका भी इन्होंने लिखी है। यह काश्मीरी थे यह तो इनकी राजानक उपाधि द्वारा ही स्पष्ट है।

ध्वन्यालोक पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या मुद्रित हो चुकी है। और लोचन व्याख्या द्वारा विदित होता है कि ध्वन्यालोक पर एक चन्द्रिका नाम की टीका भी अभिनवगुप्ताचार्य के किसी पूर्वज द्वारा लिखी गई है[2]। उस पर अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन में—'इत्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन' इत्यादि वाक्यों द्वारा आक्षेप भी किया है[3]। अभिनवगुप्ताचार्य और उनकी लोचन

---

१ अर्जुनचरित्र का उल्लेख ध्वन्यालोक पृ० १४८ और विषमवाणलीला का ध्वन्यालोक पृ० १५२, २४१ में है।

२ देखिये ध्वन्यालोक के प्रथम और तृतीय उद्योत की लोचन व्याख्या के अन्तिम श्लोक।

३ देखिये, लोचन व्याख्या पृ० १२३, १७४, १७८, १८५।

व्याख्या के विषय में अधिक उल्लेख आगे कालक्रम के अनुसार अभिनवगुप्ताचार्य के प्रकरण में किया जायगा।

मुकुलभट्ट और अभिधावृत्तिमात्रिका

मुकुल के अभिधावृत्तिमात्रिका में केवल १५ कारिकाए है। उनपर स्वय मुकुल ने ही विस्तृत वृत्ति लिखी है। इसमें वाच्यार्थ-(मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ एवं अविधा और लक्षणा मात्र का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। मुकुल भट्ट का यद्यपि अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी मुकुल का स्थान साहित्यक्षेत्र में उल्लेखनीय अवश्य है। उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसग्रह पर लघुवृत्ति व्याख्या के लेखक श्री प्रतिहारेन्दुराज जैसे विद्वान् ने लघुवृत्ति के अतिम पद्य में मुकुल का अपने आचार्य रूप में गौरव के साथ उल्लेख किया है।

अभिधावृत्तिमातृका के अंतिम पद्य में मुकुल ने अपने पिता का नाम कल्लट भट्ट बताया है। भट्ट कल्लट काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का सभा-पण्डित था जैसा कि राजतरगिणी के—

'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्री कल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।'

—राजतरङ्गिणी ५।६६

इस पद्य में कहा गया है। अवन्तिवर्मा का समय सन् ८५७-८८४ ई० है*। इसके द्वारा मुकुल का समय ई० सन् की नवम शताब्दी का अन्तिम चरण या दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जा सकता है।

राजशेखर और उसकी काव्यमीमांसा

'वभूव वल्मीकभवः पुराकविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः'।

—बालभारत १।१३

काव्यमीमांसा, रस, रीति अथवा अलङ्कार आदि किसी विशेष विषय का ग्रन्थ नहीं। किन्तु इसमें काव्य के सारे प्रयोजनीय विषयों का एक नवीन किन्तु अत्यन्त सार-गर्भित आलोचनात्मक शैली द्वारा विवेचन किया गया है। अतएव यह ग्रन्थ काव्य-शिक्षा-विषयक अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। खेद है कि १८ अधिकरणों में पूर्ण होनेवाले इस महाग्रन्थ का केवल एक 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध हो सका है—जो गायकवाड़ सीरीज में मुद्रित हुआ है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं। इसका विषय विवरण संक्षिप्ततया भी विस्तार भय से हम यहा नहीं दे सकते हैं।

---

* देखो उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह (बोंबे सीरीज) की अंग्रेजी भूमिका पृ० १४ (XIV)।

इसका विषय-विवेचन अपूर्व और पाण्डित्य-पूर्ण है। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि यह अपूर्व ग्रन्थ अनेक विषयों का भाण्डागार है। इसका जो कुछ अंश उपलब्ध है, उसीमें काव्य-मर्मज्ञों के लिये ऐसी विलक्षण सामग्रियों का समावेश है, जो अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो सकती। इसके भौगोलिक वर्णन से स्पष्ट है कि राजशेखर इस विषय का भी अच्छा ज्ञाता था। यह ग्रन्थ अधिकांश में कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन के कामसूत्र की शैली पर है। यह क्लिष्ट होने पर भी श्रुति-मधुर और हृदय-ग्राही है। राजशेखर इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण लिखने में कृतकार्य हो सका या नहीं, यह भी अनिश्चित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ, जैसा कि इसके प्रथम अध्याय में संकेत है, न भी लिखा गया हो, तो भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल यह उपलब्ध एक अधिकरण ही लिखा गया है। क्योंकि अलङ्कारशेखर में केशव मिश्र ने—'तदाह राजशेखरः—समानमधिक न्यूनं' इत्यादि दो श्लोक उपमा प्रकरण में (अलङ्कार शे० मरीचि ११ पृ० ३२) और—'राजशेखरस्तु—उत्पाटितैर्नभोनीतैः.... ' यह पद्य (अलङ्कार शे० मरीचि १९ पृ० ६७) समस्या-पूर्ति प्रकरण में उद्धृत किये हैं पर यह काव्यमीमांसा के उपलब्ध प्रथमाधिकरण में नहीं हैं। सभवतः केशवमिश्र द्वारा प्रथम के दोनों पद्य काव्यमीमासा के उपमालङ्कार अधिकरण से और तीसरा पद्य वैनोदिक अधिकरण से लिये गये हों, क्योंकि मुद्रित प्रथम अधिकरण में इन अधिकरणों के लिखे जाने का उल्लेख राजशेखर ने किया है।

राजशेखरने काव्यमीमांसा में अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों के

सिद्धांत और उनके ग्रन्थों के जो उदाहरण उद्धृत किये हैं, जिनमे श्री भरतमुनि, श्री आनन्दवर्धनाचार्य, उद्भट, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज, वामन आदि साहित्याचार्य और कालिदास, अमरु, भारवि, बाण, भवभूति, भट्ट नारायण, माघ, मयूर, आदि महाकवि उल्लेखनीय हैं।

राजशेखर अपने को कविराज बताता है, न कि महाकवि। उसने कवियों को दश श्रेणियों में विभक्त किया है, जिनमें उसने छठी श्रेणी में महाकवि का और इससे उच्च सातवी श्रेणी में कविराज का स्थान निर्दिष्ट किया है। कविराज की स्पष्टता में उसने कहा है—

'यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेतेषु प्रबन्धेषु तस्मिंतस्मिश्चरसे स्वतंत्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये'।

(काव्यमीमांसा पृ० १९)

वस्तुत. काव्यमीमांसा के लेखक का अपने को इस वाक्य के अनुसार कविराज की श्रेणी का अधिकारी बताना अत्युक्ति या गर्वोक्ति नही कही जा सकती। यद्यपि राजशेखर ने स्वय अपने को कविराज बताकर गर्वोक्ति अवश्य की है, पर सस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के लिये यह नई बात नहीं, जब कि कविशेखर कालिदास जैसे कतिपय विनीत कवियों की अपेक्षा अपने विषय मे गर्वोक्ति करने वाले प्रसिद्ध कवियों की सख्या कहीं अधिक है।

'कर्पूरमञ्जरी' सट्टिका द्वारा विदित होता है कि राजशेखर ने बाल रामायण और बाल भारत की संज्ञा में बाल शब्द का प्रयोग

समवतः इसलिये किया है कि राजशेखर की ये दोनों कृतियां बाल्यावस्था की हैं। और कर्पूरमञ्जरी तथा काव्यमीमांसा में उसने अपने को कविराज की उपाधि से उल्लेख किया है॥।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अतिरिक्त बालभारत (या प्रचण्ड पाण्डव), बाल रामायण नाटक और कर्पूरमञ्जरी सट्टक लिखा है, जो मुद्रित हो गये हैं। इनके सिवा विद्धशालभञ्जिका नाटक भी लिखा है। हेमचन्द्र ने (काव्यानु० पृ० ३३५) इसके हरिविलास ग्रन्थ का नामोल्लेख भी किया है। और काव्यमीमांसा में (पृ० ९८) इसने स्वय अपने एक भुवनकोष ग्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है।

क्षेमेन्द्र के कविकण्ठाभरण एवं औचित्यविचारचर्चा में, महाराज भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन विवेक में, वाग्भट्ट के काव्यानुशासन में और केशव मिश्र के अलङ्कारशेखर आदि में जो काव्ययोनयः, अर्थव्याप्ति, परकीय-काव्यहरण, कवि-समय, और देश काल आदि का जो कुछ न्यूनाधिक वर्णन दृष्टिगत होता है, वह सब काव्यमीमांसा पर ही निर्भर है, अतएव उक्त सभी ग्रन्थकर्ता राजशेखर के अत्यन्त ऋणी हैं। हेमचन्द्र ने तो काव्यमीमांसा का लगभग चतुर्थांश अपने ग्रन्थ में समावेश कर लिया है, यहांतक कि ७,९,१३,१७ और १८ की अध्यायों में इसके बड़े बड़े अवतरणों का सब का सब अंश प्रायः अविकल—कुछ शब्दों का परिवर्तन करके ले लिया है।

॥ 'बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः। इत्येतस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः' ॥ कर्पूरमञ्जरी १।९

राजशेखर का परिचय

राजशेखर महामंत्री दुर्दुक अथवा दुहिक और शिलावती का पुत्र था। और यायावरीय वंश के अकालजलद कवि का प्रपौत्र। यायावरीय वश में ही सुरानन्द, तरल और कविराज जैसे प्रसिद्ध विद्वान् और कवि उत्पन्न हुए थे[१]। इसने काव्यमीमांसा में अनेक स्थलों पर यायावरीय मत का उल्लेख किया है। और स्वयं अपना भी इसने निजवंश-सूचक 'यायावरीय' की व्यापक उपाधि द्वारा उल्लेख किया है। यद्यपि स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसादजी ने कर्पूरमञ्जरी (काव्यमाला सस्करण) की भूमिका में और श्री सी० डी० दलाल ने काव्यमीमांसा की भूमिका में लिखा है कि यह ब्राह्मण था या क्षत्री? इसका पता नही चल सकता। जबकि राजा महेन्द्रपाल का उपाध्याय होने के कारण इसे ब्राह्मण माना जा सकता है, तब इसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहाण वंश की क्षत्रिया

---

[१] राजशेखर ने स्वयं लिखा है—

'स मूर्तो यत्रासीद्गुणगणइवाकालजलदः,
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो,
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले'॥

—बालरामायण १।१३

थी[1], इसलिये इसका क्षत्री होना भी कल्पना किया जा सकता है। किंतु 'यायावरीय' की उपाधि द्वारा ज्ञात होता है कि यह ब्राह्मण ही था। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका की टीका में नारायण दीक्षित ने १-५ की व्याख्या में 'यायावर' का अर्थ देवल स्मृति के अनुसार एक प्रकार का गृहस्थ लिखा है—

'द्विविधोहि गृहस्थो यायावरः शालीनश्च'

और आश्रमोपनिषद् में लिखा है—

'गृहस्थापि चतुर्विधा भवन्ति। वाताकवृत्तयः
शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्च'।

और 'यायावर' की व्याख्या में लिखा है—

'यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना
अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः'।

इस वाक्य में जो यायावरों के छः कर्म बतलाये गये हैं, वे मनु आदि स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिये ही नियत हैं[2]। श्री मद्भागवत में भी

---

१ राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में लिखा है—

'चौहाणकुलमौलिमालिआ राजशेहरकइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइदुमेदमिच्छदि॥
(१।११)

२ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दान प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयेत्।
—मनु० १।८८

यायावर वृत्ति ब्राह्मणों को ही बतलाई गई है[1]। अतएव यायावरीय राजशेखर का ब्राह्मण होना ही सिद्ध होता है। अब रहा यह कि उसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिया थी। क्षत्रिया स्त्री के साथ ब्राह्मणों का वैवाहिक सम्बन्ध पुराणेतिहासों में मिलता ही है। संभव है किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर राजशेखर ने ऐसा किया हो, किंतु इस आधार पर राजशेखर ब्राह्मणातिरेक जाति का सिद्ध नहीं हो सकता। इसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी बड़ी विदुषी और कवयित्री थी। इसीके मनोरञ्जनार्थ ही राजशेखर ने कर्पूर-मञ्जरी लिखी है। काव्यमीमांसा में इसके मत का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है[2]।

राजशेखर महाराष्ट्रीय प्रतीत होता है। बाल रामायण में इसने अपने प्रपितामह अकालजलद के लिये 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' का प्रयोग किया है। यद्यपि इसके—'ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख······' (काव्यमी० पृ० ८), और 'यो मार्गः परिधान·······' (बा० रा० अंक १०।९०), इत्यादि वर्णन कान्यकुब्ज की रमणियों के विषय में तथा 'शश्वत् सुधामवसुधा' इत्यादि (बालरा० अंक १०।८८,८९) कान्यकुब्ज देश के वर्णन में, तथैव—'यत्रार्येन' इत्यादि (बाल

---

१ वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम्।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।
—श्रीमद्भा० ७।११।१६

२ देखो काव्यमीमांसा पृ० २०, ४६-५७।

रा० अक १०।८६) पाञ्चाल देश के वर्णन में है। इनके द्वारा कान्यकुब्ज और पाञ्चाल पर राजशेखर का पक्षपात विदित होता है और कुछ लाट देश पर भी (काव्यमी० पृ० ३४)। किंतु संभव है यह महाराष्ट्रीय होने पर भी अपने अपूर्व पाण्डित्य के प्रभाव से इन देशों के राजाओं से भी सम्मानित होने के कारण राजशेखर ने इन देशों का वर्णन भी चित्ताकर्षक किया हो।

राजशेखर नाम के सस्कृत के कई लेखक हुए हैं। एक राजशेखर ने चतुर्विंशतिप्रबन्ध प्रणीत किया है, उस ग्रन्थ के अन्त में उसका रचना-काल सवत् १४०५ वि० (१३४८ ई०) लिखा है। एक राजशेखर केरल का राजा हुआ है, जिसने स्वप्रणीत तीन नाटक भगवान् शङ्कराचार्य के अर्पण किये थे*। जिसका उल्लेख श्री माधवाचार्य ने शङ्करदिग्विजय में किया है‡। एक राजशेखर राजा का उल्लेख चंगजाशेरि के समीप तलमनूइल्ल गाव के एक ताम्र पत्र में मिला है, उसका समय उसके सम्पादक श्री गोपीनाथ राव ने सन् ७५०-८५० ई० बतलाया है। इत्यादि आधारों पर कुछ विद्वान् लेखकों ने कविराज राजशेखर की उपर्युक्त राजशेखर नाम के व्यक्तियों से एकता की है। किंतु पुरातत्ववेत्ता महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचंद ओझाजी ने उन लेखकों की कल्पनाओं को

---

* भगवान् शङ्कराचार्य के विषय में कुछ विद्वान् माधवाचार्य का उल्लेख भ्रमात्मक मानते हैं।

‡ देखिये ट्रावनकोर संस्करण जिल्द २ पृ० ९,१०।

भ्रमात्मक सिद्ध कर दी हैं[१]। वस्तुतः कविराज राजशेखर उन सभी से भिन्न है।

राजशेखर का समय

इसके नाटकों की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल का उपाध्याय था[२]। और उसके पुत्र महीपाल का भी कृपापात्र था। महेन्द्रपाल का शिलालेख ९०७ ई० का है[३]। और महीपाल का समय ९१७ ई० का है[४]। राजशेखर ने वाक्पतिराज का नामोल्लेख किया है—'न इति वाक्पतिराजः।' (काव्यमीमांसा पृ० ६२) और 'तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः इति औद्भटाः'। (काव्यमीमासा पृ० २२) इत्यादि से उद्भट का एव (काव्यमीमांसा पृ० १६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य का भी नामोल्लेख किया है। अतः

---

१ देखिये नागरीप्रचारिणी पत्रिका सं० १९८२ वि० पृ० ३६५-३७०।

२ 'रघुकुलचूडामणेर्महेन्द्रपालस्य कश्चगुरुः'। कर्पूरमञ्जरी १।५
'देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणी.'।

बालभारत १।११

३ देखिये मि० कीलहार्न द्वारा प्रकाशित स्यादोनी का शिलालेख।

४ देखो एपीग्राफिया इंडिका वोल्यूम १ पृष्ठ १७१।

राजशेखर श्री आनन्दवर्धनाचार्य का (जिनका समय काश्मीराधिपति अवन्तिवर्मा के समकालीन लगभग ८५० ई० है) परवर्ती है।

सोमदेव ने यशस्तिलक (पृ० ११३) में राजशेखर का नामोल्लेख किया है—'तथा उर्वभारः' '' 'राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु'। सोमदेव के यशस्तिलक की रचना ९५९ ई० की है†। अतः राजशेखर का काव्य समय लगभग सन् ८८४ से ९२५ ई० तक प्रतीत होता है।

धनञ्जय तथा धनिक और दशरूपक

धनञ्जय ने दशरूपक ग्रन्थ प्रधानतया नाट्य विषय पर लिखा है, जो श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के मतानुसार है। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम और तृतीय प्रकाश में दसरूपकों के भेदों के लक्षण और नृत्यादि नाटक के अनेक विषयों का निरूपण है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद एवं चतुर्थ प्रकाश में नवरसों का विवेचन है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस में धनिक की टीका के साथ मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के लोकप्रिय और अधिक प्रचलित होने का कारण इसमें की गई विषय-विवेचन की सरलता एवं सुन्दर

† देखो काव्यशाला संस्करण कर्पूरमञ्जरी का सम्पादकीय लेख पृ० २।

ऐसी है। धनञ्जय के उत्तरकालीन विश्वनाथ आदि ने जो नाट्य विषय पर विवेचन किया है वह दशरूपक पर ही निर्भर है अतएव वे अधिकतया धनञ्जय के ऋणी हैं।

धनञ्जय ने अपना परिचय देते हुए कहा है—

विष्णोःसुतेनाऽपि धनञ्जयेन
विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मञ्जुमहीशगोष्ठी
वैदग्धभाजा दशरूपमेतत्॥

—दशरूपक चतुर्थ प्रकाश ८६

इससे विदित होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था और धनञ्जय मुञ्ज राजा का सभा-पण्डित था। मुञ्ज की प्रसिद्धि वाक्पतिराज के नाम से भी है। धनञ्जय ने—"प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवीं"—इत्यादि पद्य को दशरूपक (प्रकाश ४) में प्रणय-मान और दृष्ट-मान दोनों के उदाहरणों में वाक्पतिराज और मुञ्ज दोनों के नाम से उद्धृत किया है। मुञ्ज के अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ और श्री वल्लभ भी उपनाम थे। मुञ्ज मालव के परमारवशीय राजाओं में था। इसका शिलालेख १०३१ विक्रमीयाब्द के अनुसार ९७४ ई० का है[१]। मुञ्ज की राजधानी उज्जैनी थी, धारानगरी को तो मुञ्ज के बाद महाराजा भोज के समय में राजधानी की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। इसके द्वारा धनञ्जय का समय लगभग १००० ई० हो सकता है।

१ देखो प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग पृ० १

धनिक ने दशरूपक पर अवलोक टीका लिखी है। 'अवलोक' की समाप्ति के—

'इति श्री विष्णुसूनो धनिकस्य कृतौ
दशरूपावलोके रस विचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः'

इस वाक्य में 'विष्णुसूनो' के प्रयोग द्वारा प्रतीत होता है कि धनिक सम्भवतः धनञ्जय का भाई था। धनिक ने 'नवसाहसाङ्कचरित' प्रणेता पद्मगुप्त के (जो परिमल के नाम से प्रसिद्ध था) उद्धरण लिये हैं×। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने और प्रतापरुद्रयशोभूषण के प्रणेता विद्याधर ने धनिक और धनञ्जय को एक ही समझ कर दशरूपक की कारिकाएं धनिक के नाम से उद्धृत की हैं किन्तु यह उनका भ्रम है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य, भट्ट तौत और भट्टेन्दुराज

ध्वन्यालोक के 'लोचन' टीकाकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य केवल कवि ही नही, किन्तु प्रगाढ दार्शनिक विद्वान भी थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। नाट्यशास्त्र पर इनकी अभिनवभारती व्याख्या भी उल्लेखनीय है, वह गायकवाड़ सीरीज में मुद्रित हो रही है, उसकी सात अध्याय प्रकाशित भी हो गई है। इनके प्रणीत साम्प्रदायिक कुछ ग्रन्थ काश्मीर संस्कृत सीरीज में भी मुद्रित हो गये

× देखो दशरूपक में मोहायित अनुभाव का उदाहरण।

हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी की हुई व्याख्या निर्णयसागर में मुद्रित हुई है। इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य के परिचय के लिये यही पर्याप्त है कि ये उस मम्मटाचार्य के आचार्य थे, जिसको विद्वद्समाज में भगवती सरस्वती का अवतार कहा जाता है। इनकी ध्वन्यालोक पर लोचन टीका का स्थान भी संस्कृत साहित्य में बड़ा महत्वपूर्ण है। यह टीका हस्तलिखित प्रतियों में ध्वन्यालोकलोचन के सिवा सहृदयालोकलोचन और काव्यालोकलोचन की संज्ञा से भी व्यक्त की गई है। अभिनवगुप्तपादाचार्य केवल ध्वन्यालोक के टीकाकार ही नहीं किंतु ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापकों एवं प्रवर्तकों में इनका स्थान वृत्तिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य के समकक्ष है। इन्होने लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न बताते हुए भी किसी-किसी स्थल पर इन दोनों के विषय में भ्रमोत्पादक उल्लेख भी कर दिया है। इन्होंने भट्ट तौत को अभिनवभारती (पृ० ३१०) और भट्टेन्दुराज अथवा इन्दुराज को ध्वन्यालोक (पृ० १६०) और श्री गीता की व्याख्या (प्रथम पद्य) में अपने उपाध्याय बतलाया है। भट्ट तौत ने काव्यकौतुक ग्रन्थ लिखा है जिसका उल्लेख लोचन में (पृ० २९) है। और उस पर अभिनवगुप्ताचार्य ने विवरण लिखा है (लोचन पृ० १७८)। भट्ट तौत का क्षेमेन्द्र ने भी उल्लेख किया है—

'यदाह-भट्ट तौतः 'प्रज्ञा नवनवोन्मेपशालिनी प्रतिभा मता'

(औचित्य वि० पृ० १५५)। इसके कुछ श्लोक भी लोचन में (पृ० २५,४३,११६,१६०,२०७) उद्धृत हैं।

यहां एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भट्टेन्दुराज-जिसको अभिनवगुप्तपादाचार्य अपना उपाध्याय बतलाते हैं, और प्रतिहारेन्दुराज, जिसने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर लघुवृत्ति लिखी है, एक ही है या भिन्न-भिन्न ? यद्यपि रुय्यक के टीकाकार समुद्रबंधने इनको एक ही समझा है, जैसा कि उसके—

'अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे भट्टोद्भट ग्रन्थे ..... व्याख्यातम्' भट्टेन्दुराजेन 'प्रीणित प्रणयि' इत्यादि—

(अलङ्कार सूत्र त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० ११९)

और इस पद्य को प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में (काव्यालङ्कार सा० सं० भंडारकर पूना संस्क० पृ० ३६) अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में दिया है। अर्थात् समुद्रबंधने प्रतिहारेन्दुराज को ही भट्टेन्दुराज समझ लिया है। किन्तु यह समुद्रबंध का भ्रम मात्र है। और इस भ्रम का कारण केवल दोनों के नाम की समानता ही है। क्योंकि इन दोनों के एकीकरण के विरुद्ध एक यही प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में ध्वनि सिद्धान्त का प्राधान्य स्वीकार नहीं किया है किन्तु इस विषय पर विस्तृत विवेचन करके यह प्रतिपादन करने की भरसक चेष्टा की है कि 'ध्वनि' अलङ्कारों में समावेशित है* । किन्तु श्री अभिनवगुप्ताचार्य के उपाध्याय भट्टेन्दुराज ध्वनि-

* देखो काव्यालङ्कारसारसंग्रह भण्डारकर पूना संस्करण पृ० ८५-९२ ।

सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

'एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधाध्वनि-
रत्रश्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः'

(ध्वन्या० लोच० पृ० २)

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है। अतएव भट्टेन्दुराज और प्रतिहारेन्दुराज यह दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का परिचय और समय

अभिनवगुप्ताचार्य ने परात्रिंशका में अपने पिता का नाम चुखल, पितामह का नाम वराह गुप्त एव छोटे भाई का नाम मनोरथ बताया है, और अपना समय भी स्वयं बतलाया है। प्रत्यभिज्ञाबृहतीवृत्ति की रचना का समय उन्होंने उसीके अन्त में लिखा है—

'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ॥'[1]

अर्थात् गत कलि ४११५ (सन् १०१५ ई०)। और भैरव स्तोत्र की रचना का समय इन्होंने लिखा है उसके अनुसार सन् ९९१ ई० है[2] महाकवि क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्ताचार्य को भारत मञ्जरी के—

---

१ देखो व्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १५९।

२ देखो व्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १६२।

'आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ।
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः ॥'
—भारत मञ्जरी पृ० ८५०

इस पद्य में अत्यन्त गौरव के साथ अपना साहित्यक गुरु बताया है। क्षेमेन्द्र, अनन्तराज के समकालीन है जिसका समय सन् १०२०-१०८० ई० है*। और लगभग १०५० ई० के आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस विषयक भरत सूत्र के व्याख्याकारों में अभिनव गुप्ताचार्य के मत को 'आचार्यपाद' के प्रयोग द्वारा उद्धृत किया है इसके द्वारा अभिनव और मम्मट का भी गुरु-शिष्य सम्बन्ध विदित होता है अतएव अभिनवगुप्तपादाचार्य का समय सन् ९७० से १०५० ई० तक के लगभग हो सकता है।

इनका नाम केवल अभिनव था, फिर अभिनवगुप्तपाद नाम की प्रसिद्धि के विषय में सुधासागर टीका में कहा गया है कि यह बाल्य-काल में अपने सहपाठी बालकों को डराया करते थे, इसलिये गुरुजी ने इनका नाम 'बालबलभीभुजङ्ग' रख दिया था, इसी सांकेतिक नाम के आधार पर इनका अभिनवगुप्तपाद नाम प्रसिद्ध हुआ। किन्तु सम्भवतः यह कल्पना अनाधार है। अभिनवगुप्ताचार्य ने स्वय अपने पितृव्य का नाम वामन गुप्त बतलाया है† अतः 'गुप्त' की उपाधि इनके वंशपरंपरागत प्रतीत होती है।

* देखो क्षेमेन्द्र विषयक निबन्ध इसी ग्रन्थ में।

† देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती पृ० २९७—'तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य ।'

राजानक कुन्तल अथवा कुन्तक और उसका वक्रोक्तिजीवित

कुन्तल का स्थान भी साहित्य क्षेत्र में उल्लेखनीय है। इसने वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ लिख कर अपना एक नवीन सिद्धान्त स्थापन करने की चेष्टा की थी। अतएव कुन्तल की अपेक्षा वक्रोक्तिजीवित कार के नाम से इसकी अधिक प्रसिद्धि है।

वक्रोक्तिजीवित में चार उन्मेष हैं। किन्तु बाबू सुशीलकुमार दे द्वारा सम्पादित और कलकत्ता औरिएन्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित सस्करण में तीसरा उन्मेष भी असमाप्त ही मुद्रित हो सका है। इस ग्रन्थ में कुन्तल ने वक्रोक्ति को न तो वामन और रुद्रट इन दोनों में किसी के मतानुसार केवल एक अलङ्कार-विशेष ही स्वीकार किया है। और न भामह के (काव्यल० २।८५) मतानुसार सम्पूर्ण अलङ्कारों में ही व्यापक बतलाया है। किन्तु कुन्तल ने वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ को सुशोभित करने वाली कवि-कौशल द्वारा वर्णन करने की साधारण उक्ति की प्रसिद्ध शैली से विशिष्ट-एक विचित्र शैली बतलाई है—

'उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥'

—वक्रोक्ति जी० १।१०

इसमें 'वक्रोक्ति' शब्द के आगे 'एव' के प्रयोग द्वारा इसने काव्य रचना में कवि का कौशल एक मात्र वक्रोक्ति में ही मर्यादित कर दिया है। यहांतक कि जिस 'ध्वनि' सिद्धांत का ध्वनिकारों ने काव्य में सर्वत्र सर्वोपरि साम्राज्य स्थापित किया है, उस 'ध्वनि' को भी इसने वक्रोक्ति-वैचित्र्य में ही समावेशित करने की चेष्टा की है। और जिस शैली द्वारा ध्वन्यालोक में पद, वाक्य आदि में व्यङ्गयार्थ द्वारा ध्वनि का चमत्कार प्रदर्शित किया है, और काव्य-विषयक प्रधान चमत्कार व्यङ्गयार्थ पर अवलम्बित बताया है उसीप्रकार इसने भी पद, वाक्य आदि वक्रता के उदाहरण दिखला कर वाच्यार्थ के उक्ति-वैचित्र्य ही में संपूर्ण काव्य चमत्कार प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। सत्य तो यह है कि कुन्तक का प्रधान उद्देश्य इस ग्रन्थ के प्रणयन का एक मात्र ध्वनि सिद्धांत को निर्मूल करने का ही था। क्योंकि उसने ध्वनि काव्य को स्वीकार करके भी उसे स्वतत्र सिद्धान्त न मान कर अपने वक्रोक्ति-मार्ग के अतर्गत स्थापन करने की चेष्टा की है। कुन्तल का कहना है कि वक्रोक्ति-उक्ति-वैचित्र्य ही-काव्य का जीवन सर्वस्व है, न कि व्यङ्गयार्थ। रुय्यक ने स्पष्ट कहा है—

"उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवल-मुक्तिवैचित्र्य जीवितंकाव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।" (अलङ्कारसर्वस्व काव्यमाला संस्करण पृ० ८)

किन्तु कुन्तल अपने आघातों से ध्वनि-सिद्धान्त को किञ्चित् भी विचलित न कर सका, प्रत्युत इस चेष्टा द्वारा उसका यह सिद्धांत नितांत शिथिल होकर नाम मात्र अवशेष रह गया।

यद्यपि कुन्तल के इस सिद्धांत का मूलाधार भामह द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति का व्यापक-सिद्धान्त है। किंतु कुन्तल ने अपने मूलाधार के बलाबल पर विचार न करके उस पर निर्मर्याद असह्य भार का भवन निर्माण करके वस्तुतः असंभव चेष्टा की जिसका परिणाम विपरीत हुआ जो कि अवश्यभावी था। दूसरे शब्दों में इसकी स्पष्टता यह है कि आचार्य भामह ने अपनी दूर-दर्शिता से वक्रोक्ति अर्थात् उक्ति वैचित्र्य की व्यापक-शक्ति अलङ्कारों तक ही मर्यादित रक्खी थी, इससे वह स्थिर भी रह सकी। किंतु कुन्तल ने वक्रोक्ति सिद्धात में गुण, रीति, रस, ध्वनि सभी को समावेश करने का दुःसाहस किया है, ऐसी परिस्थिति में वह चिरस्थाई किसप्रकार रह सकता था अर्थात् न तो वह अपने उत्तर-कालीन आचार्यों को ही प्रभावित करने में समर्थ हुआ और न भामह के सिद्धात को आच्छादित ही कर सका। प्रत्युत भामह के चमत्कारिक सिद्धांत का प्रकाश अपने पूर्व रूप में ही उसके अत्यन्त दूरवर्ती आचार्य मम्मट जैसे साहित्याचार्यों तक को अपनी ओर आकर्षित करता रहा।

ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी होने के कारण कुन्तल का वक्रोक्ति-सिद्धात यद्यपि स्थिर न रह सका, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि कुन्तल एक उल्लेखनीय साहित्य-मर्मज्ञ और मार्मिक आलोचक था। वक्रोक्तिजीवित में उसने जो अपने पूर्ववर्ती कालिदासादि महाकवियों

के पद्य उदाहरणों में उद्धृत करके उन पर जो विवेचन किया है वह केवल चित्ताकर्षक ही नहीं वस्तुतः भाव-गर्भित और विद्वता-पूर्ण है उसके द्वारा कुन्तल की विवेचन शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है।

कुन्तल का समय

कुन्तल ने अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि बाण और भवभूति आदि के बहुत से पद्य उदाहरणों में उद्धृत किये हैं। और इन सब से अन्तिम और अपने निकटवर्ती राजशेखर का—जिसका समय लगभग सन् ८८४-९२५ ई० है—नामोल्लेख किया है—

'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु।'—(वक्रोक्तिजी० पृ० ७१)

और राजशेखर की बाल रामायण के बहुत से पद्य भी उद्धृत किये हैं[1]। अतः कुन्तल का समय राजशेखर के बाद का है। और कुन्तल के उत्तरकालीन निकटवर्ती महिम भट्ट ने (व्यक्ति विवेक पृ० २८)—

'शब्दार्थौसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।' इत्यादि—

(वक्रोक्ति जी० ११७)

कारिका को कुन्तल के नामोल्लेख के साथ उद्धृत किया है। महिम

१ देखिए, वक्रोक्ति जीवित प्रथम उन्मेष पद्य सं० २२, ३३, ५६, ६३, १०२ और द्वितीय उन्मेष सं० १०, ११, २९, ३४, ७१, ७६, ९९, १००, १०४।

भट्ट का समय संभवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। इसके द्वारा कुन्तक, स्पष्ट ही महिम भट्ट का पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। किन्तु कुन्तक के काल निर्णय के विषय में यहां एक यह जटिलता उपस्थित होती है कि महिम भट्ट और कुन्तक दोनों ही ध्वन्य सिद्धांत के प्रवल प्रतिपक्षी थे और महिम भट्ट ने अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोक व्याख्या के कुछ अश की व्यक्ति विवेक में आलोचना भी की है और महिम के ध्वनि-सिद्धांत-विरोधी मत का मम्मट ने काव्यप्रकाश में बडा तीव्र खण्डन किया है, किंतु महिम के पूर्ववर्ती कुन्तल के ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी वक्रोक्ति-सिद्धात का मम्मट द्वारा खण्डन नहीं किया जाना वस्तुतः आश्चर्य का विषय है जब कि राजानक उपाधि द्वारा कुंतक और मम्मट दोनों ही एकदेशीय कास्मीरी-होने के कारण उनका परस्पर में अनभिज्ञ रहना भी असंभवसा ही है। ऐसी परिस्थिति में यही अनुमान हो सकता है कि सभवतः कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित को उस समय तक प्रसिद्धि प्राप्त न होने के कारण यह ग्रन्थ मम्मट के दृष्टि-पथ न हो सका हो। इसलिये कुन्तल का समय अभिनवगुप्ताचार्य और महिम भट्ट के अधिक पूर्व नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिनवगुप्ताचार्य ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं यदि कुन्तल का ग्रन्थ इनके सन्मुख होता तो उसके वक्रोक्ति सिद्धात की वे क्रूर आलोचना अवश्य करते क्योंकि वे ध्वनि-सिद्धात के कट्टर प्रतिनिधि थे और कुन्तल प्रतिपक्षी था। अतएव कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित का समय अभिनवगुप्ताचार्य के अतिम समय के लगभग और मम्मट

के समकालीन संभवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।

महिम भट्ट और उसका व्यक्तिविवेक

महिम भट्ट ने भी कुन्तक के बाद ध्वनि सिद्धान्त को पर्याप्त युक्तियों द्वारा उच्छिन्न करने का दुःसाहस किया है। इसने 'व्यक्ति विवेक' ग्रन्थ को तीन विमर्शों में लिखा है। प्रथम विमर्श में ध्वनि लक्षण लिख कर उसका अनुमान में अन्तर्भाव, द्वितीय में अनौचित्य विचार और तृतीय में ध्वन्यालोक में ध्वनि के दिखाये गये ४० उदाहरणों को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की गई है। ध्वनिकारों ने जिस प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ को व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार और काव्य में सर्व प्रधान चमत्कारक पदार्थ बताया है, उस व्यङ्ग्यार्थ को महिम अनुमान का विषय बताता है। महिम का कहना है कि शब्द की व्यञ्जना वृत्ति है ही नहीं—केवल अभिधा मात्र वृत्ति है। ध्वनिकारों ने शब्द के अभिधेय, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन अर्थ बताये हैं किन्तु महिम अभिधेय और अनुमेय दोही अर्थ मानता है—'अर्थोऽपि द्विविधोवाच्यो अनुमेयश्च।' (व्यक्तिविवेक पृ० ७) इसकी स्पष्टता में वह कहता है—

'तत्र शब्दव्यापार विषयो वाच्यः। स एव मुख्यः। ततएव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यर्थान्तरमनुमीयतेसोऽनुमेयः।

स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्कारारसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवति वक्ष्यते।'

—व्यक्तिवि० पृ०७

अर्थात् महिम वाच्य को मुख्यार्थ और प्रतीयमान (अर्थान्तर) को अनुमेय (अनुमान द्वारा ज्ञात होने वाला) मानता है। फिर इन दोनों के—वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि यह तीन भेद कहकर वस्तु और अलङ्कार को वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ दोनों और रस आदि को केवल अनुमेयार्थ बताता है। उसके बाद महिम ने—

'वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्यच तदपेक्षया महाविषयत्वात्।'

—व्यक्तिविवेक, पृ० १२

इन वाक्यों द्वारा ध्वनि का सम्पूर्ण विषय अनुमान के अन्तर्गत बता दिया है। और रस विषय को—

विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमानएवान्तर्भावमर्हति।'

—व्यक्ति पृ०, ११२

इस वाक्य में अनुमान के अन्तर्गत बताया है।

इसप्रकार महिम भट्ट ने ध्वनिकार जैसे महान् साहित्याचार्यों के सर्वमान्य सिद्धान्त के विरुद्ध लेखिनी उठाने का दुःसाहस किया है।

यद्यपि महिम भट्ट निस्सन्देह एक उल्लेखनीय तार्किक और प्रखर आलोचक था। उसको अपनी मौलिकता का भी बड़ा गर्व था। संभवतः इसने श्री शंकुक के अनुमान बाद का अनुसरण किया है। क्योंकि श्री शंकुक ने भरत नाट्य शास्त्र के—

'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'।

इस सूत्र की जो व्याख्या की है, उसमें रस का आस्वाद अनुमान द्वारा होना ही बताया है, जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य और आचार्य मम्मट द्वारा उद्धृत किये गये इसके मत से स्पष्ट ज्ञात होता है*। किन्तु महिम भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती किसी का भी नामोल्लेख नहीं किया है, इसका कारण इसके गर्व के सिवा अन्य क्या हो सकता है। पर खेद है कि महिम ने अपनी इस प्रखर प्रतिभा का उपयोग किसी प्रशंसनीय आदर्श विषय के लिखने में नहीं किया, यदि वह ऐसा करता तो अवश्य ही उसका वह ग्रन्थ साहित्य में बड़ा उल्लेखनीय हो सकता था। किसी सुप्रसिद्ध आचार्य के सार-गर्भित सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचना द्वारा अपने नवीन मत को स्थापन करने की चेष्टा करना तो सरल है, किंतु वह सिद्धान्त रूप में तभी स्थिर रह सकता है, जब वह सारगर्भित हो और अन्य प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों के द्वारा परीक्षा की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर सर्वमान्य हो सके। किन्तु

---

* देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्ताचार्य की अभिनव भारती टीका पृ० २७४-२७६ और काव्यप्रकाश वामनाचार्य कृत टीका द्वितीय संस्करण पृ० १०२-१०५।

महिम भट्ट के इस नवीन मत को इसके उत्तरकालीन किसी भी साहित्याचार्य ने स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत प्रारम्भ में ही महिम के अत्यंत निकटवर्ती आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसके मत का अकाट्य युक्तियों द्वारा सप्रमाण खण्डन करके मूलोच्छेदन ही कर दिया। सत्य तो यह है कि महिम के ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त का दुर्भाग्य और ध्वनि-सिद्धान्त का सौभाग्य आचार्य मम्मट द्वारा किये गये सार-गर्भित गम्भीर विवेचन पर ही निर्भर है।

मम्मट के बाद अलङ्कारसर्वस्व-प्रणेता रुय्यक भी—जिसने महिम के व्यक्तिविवेक पर टीका भी की है, और जो अलङ्कार सम्प्रदाय का उल्लेखनीय प्रतिनिधि था, ध्वनि-सिद्धात को स्वीकार करता हुआ महिम पर तीव्र आक्षेप करता है—

'यत्तु व्यक्तिविवेककारो······ अविचारिताभिधानम्'

—अलं० सू० त्रिवेन्द्रम् सं० पृ० १०, ११।

यही नहीं, रुय्यक ने व्यक्तिविवेक की टीका में भी महिम भट्ट की अत्यन्त घृणास्पद आलोचना की है, जैसा कि—

'यथावस्थितपाठेतु ध्वनिकारस्येतिवचः शब्दान्वितमिष्यमाणं······ ·· · एतच्चास्य साहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एवस्खलितमिति महान् प्रमादः।'

व्यक्तिविवेक टीका पृ० ४१

और—

'तदेतस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः
सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति ।'

—(व्यक्तिविवेक टी॰ पृ॰ ४४)

इन वाक्यों से स्पष्ट है। विश्वनाथ ने भी साहित्य-दर्पण (५।४ की वृत्ति) में इसका खण्डन किया है।

महिम का परिचय और समय

महिम भट्ट काश्मीरी था, यह बात इसकी राजानक उपाधि से स्पष्ट है। इसके पिता का नाम श्री धैर्य था। और यह महाकवि श्यामल का शिष्य था। श्यामल का एक पद्य क्षेमेंद्र ने औचित्य-विचारचर्चा (पृ॰ १२५) में और एक पद्य सुवृत्ततिलका (२।३१) में उद्धृत किया है। रुय्यक तो इसके व्यक्तिविवेक का टीकाकार ही है। यद्यपि टीका में नामोल्लेख नहीं है, पर रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व के टीकाकार विमर्शनीकार जयरथ ने (अलङ्कारसर्वस्व काव्यमाला स ०पृ॰ १३) रुय्यक को ही व्यक्तिविवेक का टीकाकार स्पष्ट बताया है। और आचार्य मम्मट ने तो व्यक्तिविवेक का (काव्यप्रकाश पञ्चमोल्लास में) खण्डन किया है। अतएव महिम भट्ट क्षेमेंद्र, रुय्यक और मम्मट का पूर्ववर्ती है। और श्री आनदवर्धनाचार्य से तो इसका परवर्ती होना इसके द्वारा की गई ध्वन्यालोक की आलोचना

से ही सिद्ध होता है। और अभिनवगुप्ताचार्य की लोचन व्याख्या पृ० ३३ के एक विस्तृत अवतरण की महिम द्वारा व्यक्तिविवेक (पृ० १९) में आलोचना की गई प्रतीत होती है। अतएव महिम के व्यक्तिविवेक का रचना काल लगभग ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के द्वितीय चरण का हो सकता है।

महाराज भोज और उनका सरस्वती-कण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश

महाराज भोज ने यों तो प्रायः अनेक विषयों पर बहुत से ग्रन्थ महत्वपूर्ण लिखे हैं। साहित्य विषय में भी सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश यह दोनो ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में ध्वनि और दृश्य काव्य के विषय को छोड़ कर काव्य के रस, अलङ्कार आदि सभी विषयों का विस्तृत निरूपण है। इस ग्रन्थ का काव्यमाला वाला सस्करण बहुत उपयोगी है। जिसमें तीन परिच्छेदों पर रत्नेश्वर कृत रत्नार्पण टीका, चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर कृत विवरण और पञ्चम परिच्छेद मूल मात्र मुद्रित है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में पद के १६, वाक्य के १६, और वाक्यार्थ के १६ दोष, फिर शब्द के २४, अर्थ के २४ गुण निरूपित है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कार, तृतीय परिच्छेद मे

२४ अर्थालङ्कार, चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालङ्कार और पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में लक्षण और उदाहरणों के लगभग १५०० उद्धरण अन्य ग्रन्थों के उद्धृत हैं, जो नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, भट्टि, भामह, दण्डी, वामन, ध्वनिकार, धनिक और राजशेखर आदि के ग्रन्थों से लिये गये हैं। सबसे अधिक दण्डी के काव्यादर्श से ४१ कारिकाए और १६४ उदाहरण लिये गये हैं। यद्यपि अन्य ग्रन्थों के इतनी अधिक संख्या के अवतरणों के आधार पर श्री काणे[1] और एस० के० दे बाबू[2] इस ग्रन्थ को मौलिक स्वीकार न करके संग्रह-ग्रन्थ बताते हैं। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो सरस्वतीकण्ठाभरण भी उसी स्थान का अधिकारी है, जो स्थान मौलिक माने जाने वाले ग्रन्थों को प्राप्त है। विचारणीय बात यह है कि संस्कृत साहित्य के कतिपय लक्षण ग्रन्थों को छोड़ कर प्रायः सभी ग्रन्थों में उदाहरण तो अन्य ग्रन्थों से लिये ही गये हैं इसके अतिरिक्त न्यूनाधिक अश में परिभाषाएँ भी अन्य ग्रन्थों से ली गई हैं। यह बात भोज के पूर्ववर्ती रुद्रट के काव्यालङ्कार को छोड़ कर भामह, दण्डी, और उद्भट आदि के ग्रन्थो में न्यूनाधिक अश में दृष्टगत होती है। किंतु उनके ग्रन्थों में किसी को अधिकांश में और किसी को अल्पांश में मौलिक माना जाना मुख्यतया उन ग्रन्थों के विषय-विवेचन पर ही निर्भर है।

---

१ देखो साहित्यदर्पण की श्री काणे की अंग्रेजी भूमिका पृ० ९५।

२ देखो हिस्ट्री ओफ संस्कृत पोएटिक्स जिल्द १ पृ० १४८

ऐसी परिस्थिति में सरस्वतीकण्ठाभरण के विषय में हम यह किस प्रकार कह सकने हैं कि यह संग्रह-ग्रन्थ मात्र है जब कि विषय-विवेचन की मौलिकता इसमें उन ग्रन्थों की अपेक्षा कही अधिक है। देखिये—

(१) प्रथम तो अलङ्कारों का वर्गीकरण ही इसमे अपूर्व है। यद्यपि इसके वर्गीकरण को उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है परंतु रुद्रट का वर्गीकरण अपूर्व और वैज्ञानिक होने पर भी उसका अनुसरण भी उसके उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने नहीं किया है। और यहां तो प्रश्न केवल मौलिकता का है।

(२) इसमें निरूपित शब्दालङ्कारों की सख्या २४ है। जब कि इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ६ से अधिक किसी में नही है।

(३) शब्दालङ्कारों में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, वाक्य, यह अलङ्कार प्राचीनतम अग्निपुराण के मतानुसार निरूपित हैं। किंतु अग्निपुराण में इनका केवल नामोल्लेख मात्र है। सरस्वती-कण्ठाभरण में इन अलङ्कारों की उपभेदों सहित उदाहरणों द्वारा यदि स्पष्टता न की जाती तो इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना भी वड़ा दुःसाध्य था।

(४) अर्थालङ्कारों में भी जैमिनी के ६ प्रमाणो का सबसे प्रथम इसी में अलङ्कारों के रूप मे निरूपण किया गया है।

(५) अर्थालङ्कारों मे जो अलङ्कार अग्निपुराण में निरूपित हैं, उनकी परिभाषाओं में प्रायः अग्निपुराण का अनुसरण है, जब कि

दण्डी ने केवल उपमा के कुछ उपभेद ही अग्निपुराण के आधार पर लिखे हैं।

(६) दोष और गुणों का विवेचन भी पूर्व ग्रन्थो की अपेक्षा इसमें विस्तृत और स्पष्ट है।

(७) वैदर्भी आदि रीतियों को इसमें शब्दालङ्कारों के अतर्गत रक्खा है, किन्तु दण्डी ने अनुप्रास का भी रीति (या मार्ग) मे ही समावेश कर दिया है।

इत्यादि बहुत सी विशेषताए सरस्वतीकण्ठाभरण में दृष्टिगत होती हैं। सबसे बढ कर महत्व यह है कि इसमें विषय विवेचन विस्तार के साथ पर्याप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जैसा कि अन्यत्र दुष्प्राप्य है।

शृङ्गारप्रकाश

कुछ समय पहिले इस महाग्रन्थ का नाम मात्र श्रवणगोचर होता था, जिसका उल्लेख कुमारस्वामि ने किया था[1] एव कृष्णकवि के मन्दारमरन्दचम्पू में भी इसका उल्लेख मात्र मिलता था[2] और इसकी एक मात्र हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नमेंट की हस्तलिखित पुस्तकों की लाईब्रेरी में उपस्थित थी[3]। किन्तु हर्ष का

१ देखो प्रतापरुद्रयशोभूषण की रत्नायण टीका पृ० २२१,११४

२ देखो मन्दारमरन्दचम्पू ९ पृ० १०७।

३ मद्रास गवर्नमेंट हस्तलिखित लायब्रेरी पृ० १४७।

विषय है कि अब इस ग्रन्थ के २२, २३, २४ की सख्या के तीन प्रकाश लो प्रिटिंग हाउस मद्रास में मुद्रित हो गये हैं। मुद्रित ग्रन्थ की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ३६ प्रकाशों में विभक्त है। प्रस्तावना में दिखाये हुए प्रत्येक प्रकाश के आद्यन्त के सक्षिप्त पाठ से विदित होता है, कि इसके प्रथम के १० प्रकाशों मे शब्द, शब्द की अर्थ-व्यक्ति, कुछ व्याकरण विषय, वृत्ति, दोष, गुण और अलङ्कारों पर लिखा गया है। ११ वें प्रकाश में रसावियोग और १२ वे में महाकाव्य, नाटकादि के लक्षण आदि निरूपण है। और शेष २४ प्रकाशों में रस का विवेचन है। शृङ्गारप्रकाश में एक मात्र शृङ्गार ही रस माना गया है। वीर अद्भुत आदि रसोको वट-यक्षवत् मिथ्या रस प्रवाद बताये गये हैं, जैसा कि—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेप परिश्रमो नः' ॥

—शृङ्गारप्रकाश १।७,८

ग्रन्थारम्भ के इन पद्यों में कहा गया है। २२, २३ और २४

संख्या के मुद्रित प्रकाशों में शृङ्गाररसान्तर्गत अनुराग स्थापन, सम्भोग और विप्रलम्भ का विवेचन है। यों तो 'भोज' नाम के बहुत से राजा हुए हैं, किंतु शृङ्गारप्रकाश का प्रणेता वही मालवमण्डलाधिपति धारानगरीश महाराज भोज है, जिसने सरस्वती-कण्ठाभरण प्रणयन किया है। यह बात इन दोनों ग्रन्थों के लक्षणों, उदाहरणों एवं ग्रन्थ निगमन पद्यों द्वारा निर्विवाद हो जाती है।

भोज का परिचय और समय

श्री भोजराज सुप्रसिद्ध परमारवशीय धारानगरी के अधीश्वर थे। और मालव के राजा मुञ्ज या वाक्पतिराज के भ्राता एव नवसाहसाङ्क-चरित के नायक सिन्धुल के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। भोज स्वय कवि, उदारचेता एवं विद्यारसिक और विद्वानो का आश्रयदाता था। कल्हण ने लिखा है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्ता कविबान्धवौ'।

—राजतरङ्गिणी ७।२५९

भोज के समय में लकड़हार भी सस्कृत के विद्वान् थे, जैसा कि—

'भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एपते,
न तथा बाधते राजन् यथा बाधति बाधते'।

—सरस्वतीकण्ठाभरण भूमिका पृ० ४

इस श्लोक में कहा गया है। भोज की विद्वत्प्रियता की अनेक आख्यायिकाएँ भोज प्रबन्ध में है, वे प्रामाणिक न होने पर भी उसके द्वारा इसकी विद्वत्प्रियता की ख्याति तो निस्सन्देह प्रमाणित होती है।

भोज ने अपने निकट के पूर्ववर्ती राजशेखर की बालरामायण आदि के एवं दशरूपक प्रणेता धनञ्जय और धनिक के पद्य सरस्वती-कण्ठाभरण[1] और शृङ्गारप्रकाश में[2] उद्धृत किये हैं, जिनका समय ईसा की दशम शताब्दी है जैसा कि हम दिखा चुके हैं। अतएव भोजराज इनके परवर्ती हैं।

भोज ने अपने ज्योतिष ग्रन्थ राजमृगाङ्क का निर्माण-काल शक ९६४ (१०४२ ई०) लिखा है। अलबेरूनी कृत इण्डिया में भोज को १०३० ई० में धारानगरी का शासक बताया गया है। भोज का एक दानपत्र विक्रमीयाब्द १०७८ (१०२१ ई०) का है[3]। और भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र विक्रमाब्द १११२ (१०५५ ई०) का है। अतएव भोज का समय सभवतः ईसा की ११ वी शताब्दी के प्रारम्भ से १०५० ई० तक है। यद्यपि कल्हण ने राजतरङ्गिणी में भोज को कलशराज के समकालीन बतलाया है। कलश का समय विक्रमाब्द ११२०–११४६ (१०६३–१०८९ ई०) है।

---

१ देखो सरस्वतीकण्ठाभरण काव्यमाला संस्करण भूमिका पृ० ३।

२ देखो शृङ्गारप्रकाश परिशिष्ट पृ० XIV।

३ देखो इडियन एण्टिक्वेरी ६।५३,५४।

इसी आधार पर डाक्टर व्हूलर ने और मि० स्टीन ने भोज का समय १०६३ ई० तक माना है, पर जब इसके उत्तराधिकारी जयसिह का दानपत्र १०५५ ई० का है, तो इसके पूर्व ही भोजराज का अवसान सिद्ध होता है। कल्हण ने संभवतः जन-श्रुति के आधार पर भोज को कलशराज का समकालीन लिख दिया है, जो वस्तुतः भ्रमात्मक है।

सरस्वतीकण्ठाभरण पर तीन परिच्छेदों की रत्नार्पण टीका रत्नेश्वर ने राजा रामसिह से प्रेरित होकर लिखी है, जिसका समय १४०० ई० है*।

महाकवि क्षेमेन्द्र और उसके कविकण्ठाभरण तथा औचित्यविचारचर्चा

क्षेमेन्द्र के साहित्य विषयक दो ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण उपलब्ध और मुद्रित हैं। औचित्यविचारचर्चा एक प्रकार का आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमे पद, वाक्य, प्रवन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, लिङ्ग, वचन, देश और काल आदि के वर्णन में औचित्य और अनौचित्य का, अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों के पद्य

* देखो श्री काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृष्ट ९७।

उदाहरणों में रख कर गम्भीर एवं निष्पक्ष आलोचनात्मक विवेचन किया है। यहांतक कि अपने रचित पद्यों को भी अनौचित्य के उदाहरणों में दिखाये हैं। इस ग्रन्थ द्वारा क्षेमेन्द्र की आलोचना शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। और कविकण्ठाभरण में केवल ५५ कारिकाए पांच सन्धियों में विभक्त हैं। इसमें कवि-शिक्षा का संक्षिप्त विषय है। सभवतः यह राजशेखर की काव्य-मीमांसा के आदर्श पर लिखा गया है।

क्षेमेन्द्र का परिचय और समय

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों से विदित होता है कि यह प्रकाशेन्द्र का पुत्र और सिंधु का पौत्र था। इसका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इसके साहित्यक शिक्षक सुप्रसिद्ध अभिनवगुप्ताचार्य थे, जैसा कि इसने—

"आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः,
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः।"

—भारतमञ्जरी पृ० ८५०

इस पद्य में स्वयं कहा है। क्षेमेन्द्र ने उपर्युक्त दो ग्रन्थों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणीत किये हैं। जिनमें शिशुवश महाकाव्य, दशावतार चरित, बृहत्कथामजरी, भारतमजरी, रामायण-मजरी आदि बृहत् ग्रन्थों के सिवा अनेक स्तोत्र, नाटक, कोष, छद, नीति आदि के ग्रन्थ हैं। क्षेमेन्द्र के बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला सीरीज

(बंबई) में मुद्रित भी हो गये हैं अतएव क्षेमेन्द्र का भी साहित्य क्षेत्र में उल्लेखनीय स्थान है।

क्षेमेन्द्र काश्मीर के अनन्तराज का सभापण्डित था, यह बात इसके ग्रन्थों के—

'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।"

—कविकण्ठाभरण

"भूभृद्भर्तुभुंवनजयिनोऽनन्तराज्यस्य राज्ये।"

—सुवृत्ततिलक

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'

—औचित्यविचार चर्चा

इत्यादि वाक्यों में कही गयी है। अनन्तराज का राज्यकाल सन् १०२८ से १०८० ई० तक है[१]। अनन्तराज मालवाधीश भोज के समकालीन है। राजतरङ्गिणी में कहा है—

'सच भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ।'

—राजतरङ्गिणी ७।२५९

यहां 'स च' प्रसङ्गानुसार अनन्तराज के लिये कहा गया है। अतः

१ देखिये काव्यमाला प्रथम गुच्छक पृ० ३४-३५ की पाद टिप्पणी।

क्षेमेन्द्र का समय भी लगभग सन् १०५० ई० का समझना चाहिये। इसकी पुष्टि आचार्य अभिनवगुप्त के साथ इसके गुरु-शिष्य सम्बन्ध द्वारा भी होती है।

आचार्य मम्मट और उसका काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट और उसके काव्यप्रकाश को साहित्य-ससार में जैसी व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त है, वैसी अद्यापि किसी साहित्याचार्य और साहित्य-ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस बात में किसी भी साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् का मतभेद न होगा कि काव्यप्रकाश मे जिस शैली से थोड़े शब्दों में काव्य के जटिल विषयों का गाम्भीर्य और मार्मिक विवेचन किया गया है, वह वस्तुतः अभूतपूर्व है। काव्यप्रकाश पर प्रत्येक प्रांत के विद्वानों द्वारा अनेकों टीकाएँ लिखी गई हैं। जिनमें रुय्यक और विश्वनाथ जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्याचार्यों द्वारा ही नहीं, किन्तु नैय्यायिक जगदीश, नरसिंह ठक्कुर, वैय्याकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट, वैष्णव बलदेवभूषण और तांत्रिक गोकुलनाथ जैसे विभिन्न शास्त्रों के विद्वानों द्वारा भी लिखी गई हैं। इसका कारण केवल यही नहीं कि वे विद्वान् साहित्य पर रुचि रखने वाले थे, किन्तु यह भी है कि उन्होने काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने में अपने पाण्डित्य का

अत्यन्त गौरव भी समझा है। इसके द्वारा आचार्य मम्मट का सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक उत्कट विद्वान् माना जाना और लोक-प्रिय होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

यद्यपि काव्यप्रकाश के प्रथम भामह आदि द्वारा साहित्य के बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे, पर काव्यप्रकाश के प्रकाश के सम्मुख वे सभी ग्रन्थ अपने स्वतंत्र प्रकाश की विशेषता प्रकट करने में समर्थ न हो सके। उन सभी की ठीक वही अवस्था प्रतीत होने लगी, जिस प्रकार तिमिराच्छन्न गगन-मण्डल में चमत्कृत होनेवाले शुक्रादि अन्य नक्षत्रों की चन्द्रोदय के प्रकाश होने पर हो जाती है।

काव्यप्रकाश का विषय विवरण

काव्यप्रकाश में १४२ कारिकाएँ १० उल्लासों में विभक्त हैं। और ६०३ पद्य उदाहरणों मे लिखे गये हैं। जिनका विषय-क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य का सामान्य लक्षण, और उसके तीन भेद उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य और अलङ्कार के सामान्य लक्षण और उदाहरण हैं।

(२) द्वितीय में शब्द के वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक यह तीन भेद वता कर इनके क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीन

अर्थों का और चौथे तात्पर्यार्थ का स्पष्टीकरण है। उसके बाद लक्षणा और व्यञ्जना निरूपण है।

(३) तृतीय में पूर्वोक्त वाच्य आदि तीनों अर्थों की व्यञ्जकता का निदर्शन है।

(४) चतुर्थ में ध्वनि के भेद और रसों एवं स्थायी भावों, विभावों तथा व्यभिचारी भावों की स्पष्टता और ध्वनि-भेद निरूपण है।

(५) पञ्चम में काव्य के द्वितीय भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य का विषय और व्यञ्जना का प्रतिपादन है। और ध्वनि-विषयक महिम भट्ट के मत का खण्डन है।

(६) छठे में काव्य के तीसरे भेद चित्र अर्थात् शब्द के अलङ्कार और अर्थ के अलङ्कारों का विभाजन है।

(७) सप्तम में दोष प्रकरण है।

(८) अष्टम में गुण और अलङ्कार का स्वरूप और गुण एवं रीति के विवेचन में अन्य आचार्यों की आलोचना है।

(९) नवम में शब्दालङ्कार के वक्रोक्ति आदि ८ विशेष भेद निरूपण है।

(१०) दशम में उपमा आदि ६२ अलङ्कारों के विशेष भेद जिनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम यह पांच अलङ्कार संभवतः मम्मट द्वारा नवाविष्कृत हैं—मम्मट के पूर्ववर्ती

आचार्यों ने नहीं लिखे हैं*।

मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि सभी ने अलङ्कार, गुण-रीति विषयक न्यूनाधिक निरूपण किया है और रुद्रट एवं भोज ने रस विषय का भी, किन्तु इनमें किसी ने भी इस रहस्य पर कुछ प्रकाश नहीं डाला कि काव्य के रस, अलङ्कार, गुण और रीति आदि जो पदार्थ हैं उनका काव्य में क्या-क्या स्थान है अर्थात् काव्य में इनको किस-किस श्रेणी का महत्व है। यद्यपि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर प्रधानता दी थी किन्तु आचार्य मम्मट ने रीति को इस अधिकार के अयोग्य बतला कर वामन के इस मत का बहुत ही मार्मिक खण्डन किया है। ध्वनि-कारों ने काव्य में ध्वनि का साम्राज्य स्थापित करके भी अन्य काव्य

---

* आगे द्वितीय भाग में दी जाने वाली अलङ्कार विवरण तालिका में मम्मट निरूपित शब्द और अर्थ के सब अलङ्कारों की संख्या ६९ है। किन्तु उसमें श्लेष की एक ही संख्या गणना की गई है किन्तु यहां श्लेष की शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों में गणना है, अतः यहां ७० की संख्या होती है। और 'प्रदीप' आदि में काव्यप्र० के अर्थालङ्कारों की संख्या ६१ बतलाई गई है, पर वहां माला-दीपक की गणना दीपक ही में की गई है। और 'संकेत' आदि टीकाओं में काव्यप्र० के शब्दालङ्कारों की संख्या ६ बतलाई है। वहां छेकानुप्रास और लाटानुप्रास की अनुप्रास के अन्तर्गत गणना की गई है किन्तु यहां पृथक्२ है।

बिषयों का स्थान स्पष्टतया निर्दिष्ट नहीं किया था, किन्तु मम्मटाचार्य ने ही सर्व प्रथम ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कारों को, उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की संज्ञा निर्दिष्ट करके इस जटिल समस्या की पूर्ति की है। यही नहीं, ध्वनिकारों ने जिस व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का विशाल-भवन निर्माण किया था, उस पर महिम भट्ट ने जो तीव्र प्रहार करके, उसके अस्तित्व को ही समूल नष्ट करने की जो चेष्टा की थी, किन्तु आचार्य मम्मट ने अपनी मार्मिक विवेचना के शिल्पचातुर्य द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के भवन को परिष्कृत करके उसे अत्यन्ताधिक चमत्कृत और चित्ताकर्षक भी बना दिया। यह आचार्य मम्मट द्वारा की गई मार्मिक विवेचना का ही फल है कि मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित हो गये और किसी भी विद्वान् को इसके बाद ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप करने का साहस न हो सका।

मम्मट के संमुख उसके पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, उन सभी को उसने सन्मान-दृष्टि से देखा है, कितु इसने किसी को भी दासवत् अनुसरण नहीं किया। मम्मट को जिसका जो मत उचित प्रतीत हुआ उसे अपने प्रतिपाद्य विषय में उसने उद्धृत किया है और जो मत प्रतिकूल प्रतीत हुआ उसकी आलोचना भी की है—पर क्रूर शब्दों मे नहीं, देखिये—

(१) प्रथम भामह को ही लीजिये। भामह के—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते'।··· (काव्यालं० २।८५)

इस सिद्धान्त को मम्मट ने स्वीकार किया है*। और भामह की कुछ कारिकाओं का अंश भी लिया है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु भामह के—

'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते' (का०लं० २।२३)

इस मत का खण्डन भी किया है—

'आल्हादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
श्रव्यत्वंपुनरोजप्रसादयोरपि' ।

काव्यप्र० उल्ला० ८ पृ० ५७४

(२) दण्डी और वामनादि ने शब्द के १० गुण बताये हैं, किन्तु मम्मट ने—

'माधुर्योजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश'—

का० प्र० ३०।८ पृ० ५७३

इस कारिका में केवल तीन गुण ही स्वीकार किये हैं और शेष सात गुणों में किसी को अपने स्वकृत उक्त तीन गुणों के अन्तर्गत, किसी को दोष का अभाव और किसी को रस-विशेष मे दोष रूप प्रतिपादन करके युक्ति पूर्ण अस्वीकार किया है। इसीप्रकार वामनादि ने—और श्री भरतमुनि ने भी अर्थ के १० गुण बताये हैं, इस मत के विरुद्ध भी मम्मट ने विस्तृत विवेचन के अन्त में—'तेननार्थगुणावाच्याः' (का० प्र० उल्ला० ८।७३) इस कारिका में अस्वीकार कर दिये हैं।

* देखो काव्यप्र० विशेषालङ्कार की वृत्ति उल्ला० १० वामनाचार्य संस्क० पृ० ९१०।

(३) रुद्रट के बहुत से पद्य काव्यप्रकाश के उदाहरणों में उद्धृत हैं, और श्लेष प्रकरण में मम्मट ने अपने मत के समर्थन में रुद्रट के—

"तथाह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालङ्कारा……'

काव्यालं० ४।३२

इस मत को श्लेष प्रकरण में उद्धृत किया है। किन्तु रुद्रट ने व्यधिकरण और एक देश में समुच्चय अलङ्कार दिखाया है (काव्याल० ७।१९,२९) उसका मम्मट ने खण्डन किया है—

'व्यधिकरणे इति एकदेशे इति च न वाच्यम्।'

काव्यप्र० समुच्चय प्रकरण

और रुद्रट के स्वीकृत हेतु अलङ्कार का भी मम्मट ने (काव्यप्र० उ० १० पृ० ८५९) खण्डन किया है।

(४) वामन के—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।'

काव्यालं० सूत्र ३।१।१,२

इस मत का मम्मट ने (काव्यप्र० उ० ८) खण्डन किया है।

(५) उद्भट की कुछ कारिकाओं के अश काव्यप्रकाश में लिये गये हैं। किन्तु उद्भट के श्लेष विषयक—'अलङ्कारान्तरगतो प्रतिभा जनयत्पदैः।' (काव्याल० सारस०, श्लेष प्रकरण) इस मत का मम्मट ने—'न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुश्लेषः (काव्यप्र० श्लेष प्रकरण) खण्डन किया है। फिर गुण और अलङ्कार के भेद प्रतिपादन

करते हुए भी (काव्यप्र० उ० ८) मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन किया है।

(६) ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य मम्मट के अत्यन्त श्रद्धेय थे अतएव उनके मतों को मम्मट ने अपने प्रतिपाद्य विषयों के समर्थन में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। किन्तु उनकी आलोचना करने में भी मम्मट ने सङ्कोच नहीं किया है। ध्वन्यालोक में रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में—

'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेववा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदाङ्गानां न दुष्यति'॥

—ध्वन्या० ३।३०

यह कारिका है। इसकी वृत्ति में कहा गया है—

'शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः ·····न दुष्यति। यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति-

सत्यं मनोरमा रामा सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥
इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

आचार्य मम्मट ने रस के इसी विरोधाविरोध-प्रकरण में—'सत्यं मनोरमा' इत्यादि पद को उद्धृत करके इसकी आलोचना में कहा है—

'इत्यत्राद्यमर्द्धं वाध्यत्वेनैवोक्तम् ।····· शान्तमेव पुष्णाति।···· नतु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः।·········

नापि काव्यशोभाकरणम् । रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथा भावात्'। —काव्यप्र० उ-७ पृ० ५४४

अर्थात् 'सत्य मनोरमा रामा……' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में शृङ्गार रस के और उत्तरार्द्ध में शान्त रस के विभाव होने के कारण शृङ्गार और शान्त रस परस्पर विरोधी रसों का समावेश है। इसके विरोध के परिहार में ध्वनिकार का कहना है कि यद्यपि इसमें शृङ्गार रस के विभाव हैं पर एक तो काव्य, मधुरता से उपदेश दिया करता है और दूसरे यहां काव्य-शोभा के लिये ऐसा वर्णन किया गया है इसलिये यहां दोष नहीं। पर मम्मट इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि यह बात नहीं, यहां पूर्वार्द्ध में भी शृङ्गार के विभाव हैं, वे बाधित * रूप से कहे गये हैं—शृङ्गार की निवृत्ति के लिये ही ऐसा वर्णन किया गया है न कि काव्य-शोभा के लिये। अतः इसके द्वारा शान्त रस की पुष्टि ही होती है, काव्य-शोभा तो यहा अनुप्रास और रसान्तर की स्थिति होने से ही हो जाती है।

इनके सिवा काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में तो दोषों के उदाहरणों में कालिदास आदि प्रायः अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों की कृतियों में दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतएव स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य एक

---

* 'बाधित का अर्थ यह है कि किसी रस के अङ्गों के विद्यमान रहने पर भी उसके विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण उस रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। यहां शान्तरस के विभाव प्रबल होने से शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति रुक गई है।

अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न उत्कट विद्वान् होने के सिवा स्वतंत्र विचार के समालोचक भी थे। इसी से अल्प समय के पश्चात् ही—लगभग एक शताब्दी के बाद ही इनकी वाग्देवी-सरस्वती के अवतार रूप में प्रसिद्धि हो गई थी, जैसा कि अमरुकशतक के टीकाकार—जिनका समय लगभग १२२५ ई० है, धारेश्वर अर्जुनदेव के—'तदावाग्देवतादेश इति व्यवसितस्य' (अमरुक पृ० ५५) इस वाक्य से विदित होता है। मम्मट का एक ग्रन्थ शब्दव्यापारविचार भी निर्णय-सागर में मुद्रित हुआ है। उसमें शब्द-वृत्ति—लक्षणा, व्यञ्जनादि पर विस्तृत विवेचन है।

काव्यप्रकाश का लेखक

काव्यप्रकाश में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं। जिनमें उदाहरण तो प्राचीन प्रचलित परंपरा के अनुसार अन्य ग्रन्थों से उद्धृत ही हैं। किन्तु काव्यप्रकाश की साहित्यकौमुदी नामक टीका के लेखक विद्याभूषण तथा महेश्वर आदि कुछ टीकाकारों ने कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न-भिन्न बताये हैं, इस आधार पर कि नाट्य-शास्त्र की—

"शृङ्गारहास्य करुणा ...."नाट्यशा० ६।१५
"रतिर्हासश्च शोकश्च... ......"नाट्यशा० ६।१७
'निर्वेदग्लानिशङ्काख्या' इत्यादि, चार कारिकाएँ
(नाट्यशास्त्र ६।१८-२१)।

यह कारिकाएँ काव्यप्रकाश (उल्लास ४।२९,३०,३१,३२,३३,३४) में अविकल मिलती हैं। अतएव उपर्युक्त टीकाकारों ने काव्यप्रकाश की कारिकाओं को श्री भरत मुनि प्रणीत और वृत्ति को मम्मट प्रणीत समझ लिया है। किंतु यह भ्रममात्र है। क्योंकि प्रथम तो काव्यप्रकाश की १४२ कारिकाओं में नाट्यशास्त्र की केवल यह ६ कारिकाएँ है—जिनमें आठ रस, आठ स्थायि भाव और ३३ सञ्चारी भावों का नामोल्लेख मात्र है, इन सभी का नाम और संख्या सूचन करना तो मम्मट को भी आवश्यक ही था, उनके लिये अन्य नवीन कारिकाएँ निर्माण न करके नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त कारिकाओं का मम्मट द्वारा लिया जाना कोई आश्चर्य नहीं, जब कि मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अन्य सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा भी अपने पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थकारों की कारिकाएँ ली गई हैं, जैसा कि पहिले स्पष्ट किया गया है। मम्मट ने भी उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए केवल नाट्यशास्त्र की ही नहीं, किन्तु अन्य ग्रन्थों की भी लक्षणात्मक कारिकाएँ ली हैं। देखिये काव्य-प्रकाश की—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेनुप्रासोपमादयः॥
ये रसस्याङ्गिनोधर्माः'। काव्यप्रकाश उ० ८।६७

यह कारिकाएँ, ध्वन्यालोक की—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाःस्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्' ॥

—ध्वन्या० २।७ ।

इस कारिका से अधिकांश में मिलती हैं । और काव्यप्रकाश की—

'निषेधो वक्तु मिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः' ॥

—काव्यप्रकाश १०।१०६

यह कारिका भामह की—

'प्रतिषेधइवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया' । (काव्यालङ्कार २।६८)
'वक्ष्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः' । (काव्यालङ्कार २।६७)

इस कारिका से अक्षरशः मिलती है । केवल प्रथम पाद में नाममात्र का परिवर्तन है । और काव्यप्रकाश की—

(१) 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

काव्यप्रकाश १०।१०७ पृष्ठ ७९८

(२) 'अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' ।

काव्यप्रकाश १०।९७ पृष्ठ ७४४

(३) 'प्रत्यक्षाइव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः' ।

काव्यप्रकाश १०।११४ पृष्ठ ८२२

यह कारिकाएँ उद्भट की—

(१) 'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना' ।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह २।१२

(२) 'अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्व'। (काव्या सार सं० ५।६१)

(३) 'प्रत्यक्षाइव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः'।
काव्यालङ्कारसारसग्रह ६।७३

इन कारिकाओं से ली गई हैं। इनमें जो नाममात्र परिवर्त्तन किया गया है, वह मम्मट की विद्वत्ता का परिचायक है। जैसे उद्भट की द्वितीय संख्या की कारिका में—'यत्र उपमानोपमेयत्वं कल्पयेत्' इतने बड़े वाक्य के अभिप्राय को मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिका के—'उपमापरिकल्पकः' इस छोटे वाक्य में अधिक स्पष्ट कर दिया है। इसीप्रकार उद्भट की अन्य कारिकाओं में भी मम्मट ने बहुत उपयुक्त परिवर्तन किया है।

वामन के—

'कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरः शेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः'
काव्यालंकार सूत्र २।२।१४

इस सूत्र के आधार पर काव्यप्रकाश की—

'कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितः। सन्निधानादिबोधार्थं'।
काव्यप्रकाश ७।५८

यह कारिका है।

इसके सिवा काव्यप्रकाश की कारिकाएँ भरतमुनि-प्रणीत कल्पना करने के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण और भी है। काव्यप्रकाश में—'कारणान्यथकार्याणि' (काव्यप्रकाश उ० ४।२७,२८) इत्यादि कारि-

काओं की वृत्ति में—तदुक्त भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा-द्रसनिष्पत्तिः' यह उल्लेख है। यदि कारिकाएँ भरतमुनि प्रणीत होतीं तो फिर भरत की कारिका के समर्थन में भरत के नामोल्लेख के साथ भरत के इस सूत्र को किस प्रकार उद्धृत किया जा सकता था। अतएव स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश में कुछ कारिकाएँ और कुछ कारि-काओं के अश अन्य ग्रन्थों से भी लिये गये हैं, जिनमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की भी पूर्वोक्त छः कारिकाएँ ली गई हैं।

अच्छा, इस विषय में एक आपत्ति और भी है, काव्यप्रकाश के प्रारंभ में ग्रन्थारंभ की प्रथम कारिका के आदि में—

'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति'

इस वृत्ति के 'ग्रन्थकृत्' और 'परामृशति' में अन्य पुरुष के प्रयोग पर यह कल्पना की जाती है कि यदि कारिकाकार मम्मट ही होता तो अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष का प्रयोग करता। किन्तु यह कल्पना भी निर्मूल है। क्योंकि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थकर्ताओं द्वारा भी अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाना दृष्टिगत होता है—

'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणंध्यात्वा ब्रवीन्मुनीन्'।

—याग्यवल्क्य स्मृति १।२

इसमें स्वय महर्षि याग्यवल्क्यजी ने अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया है। बौधायन स्मृति में—'स हस्मादह बौधायनः'। ऐसा ही प्रयोग है। इन वाक्यों का अपरार्का टीका में यही तात्पर्य स्पष्ट

किया गया है*। और मनुस्मृति के—'स तै पृष्टस्तथासम्यगमितौजा महात्मभिः' (मनु १।४) इसकी टीका में मेधातिथि ने—

'तदा च आद्यं प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परोपदेशेन ब्रुवते'

यह लिखा है, और कल्लूक भट्ट ने—

'प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति'

यह स्पष्ट किया है। फिर एक और भी महत्वपूर्ण अन्तरङ्ग प्रमाण कारिका और वृत्ति के एक ही लेखक होने की पुष्टि में मिलता है। काव्यप्रकाश की 'सांगमेतत् निरगन्तु शुद्ध माला तु पूर्ववत्' (उ० १० पृ० ७२६) इस कारिका में मालारूपक को पूर्ववत् अर्थात् पूर्वोक्त मालोपमा के समान कहा गया है। किन्तु मूल कारिकाओं में कहीं भी मालोपमा का उल्लेख नहीं है—किन्तु इसके पहिले केवल वृत्ति में 'मालोपमा' का निर्देश है। अतः स्पष्ट है कि यदि वृत्ति और कारिकाओं का लेखक एक न होता तो वृत्ति में कहे हुए विषय का कारिकाओं में उल्लेख किसप्रकार किया जा सकता था? अतएव निस्सन्देह वृत्ति और कारिका दोनों का लेखक एक ही है। किन्तु काव्यप्रकाश की समाप्ति तक संपूर्ण कृति केवल मम्मट कृत नहीं प्रतीत होती है। इस विषय में काव्यप्रकाश के अन्तिम—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
नतद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः'॥

* देखिये, याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्का टीका पृ० ४।

इस पद्य का टीकाकारों ने एक अर्थ तो इस ग्रन्थ का महत्व-सूचक किया है। और दूसरा अर्थ—श्लेषार्थ किया है, जिसमें काव्यप्रकाश के प्रणेता दो—भिन्न-भिन्न बताये हैं। उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन विक्रमीयाब्द १२१६ (११६९ ई०) का माणिक्यचन्द्र मम्मट के निकटवर्ती टीकाकार है, उसने लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः
इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते'।

और सोमेश्वर ने अपनी संकेत टीका में लिखा भी है—

'ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरिताशेषत्वात्'।

इसीप्रकार अन्य टीकाओं में भी उल्लेख है, जो सभवतः इन्हीं प्राचीन टीकाओं के आधार पर है। इसकी पुष्टि अमरुकशतक के टीकाकार अर्जुनदेव के—'काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोष दृष्टौ' (अमरु० पृ० ५५) इस वाक्य में किये गये द्विवचन के प्रयोग द्वारा भी होती है। अर्जुनदेव, माणिक्यचन्द्र के लगभग ५० वर्ष उत्तरकालीन है[१]। इसके सिवा काव्यप्रकाश की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख प्रो० भडारकरने किया है[२] जिस पर विक्रमाब्द १२१५

---

१ अर्जुनदेव धारेश्वर भोज का १३ वां अधिकारी था। देखो इसका शिलालेख विक्रमीयाब्द १२७२ (१२१६ ई०) का ओरियन्टल सोसाइटी जर्नल भाग ७।

२ देखो भंडाकर रिपोर्ट on Four for 1904 पृष्ठ १४।

(११५८ ई०) है। उसके अन्त मे—'कृति राजानक मम्मटालकयोः' लिखा हुआ है। और राजानक आनन्द ने काव्यप्रकाश की निदर्शन नामक एक टीका सन् ११६५ ई० में लिखी है, उसमें लिखा है—

'यदुक्त'—'कृता श्रीमम्मटाचार्य्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषोविधायालक (अथवा-विधायाल्लट) सूरिणा'।

इस प्रचलित पद्य में दशमोल्लास में परिकर अलङ्कार तक मम्मट द्वारा और शेष अल्पाश अलक (या अल्लट) द्वारा प्रणीत बताया गया है। किन्तु इसके विरुद्ध पूर्वोक्त अर्जुनदेव प्रणीत अमरुकशतक की टीका में (पृ० २९) अमरुकशतक के—'प्रसादे वर्तस्व प्रकटयमुद······' काव्यप्रकाश में उद्धृत (७।३२७ पृ० ५३१) इस पद्य पर—'यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्या'। यह उल्लेख है, इसके द्वारा परिकर के आगे का अल्पाश ही नहीं किन्तु सप्तमोल्लास मे भी अलक का सम्बन्ध स्थापित होता है। किन्तु यह भी सभव है किसी प्रति के अन्त में 'मम्मटालकाभ्या' ऐसा उल्लेख देख कर उसी के आधार पर अर्जुनदेव ने संपूर्ण काव्यप्रकाश को मम्मट और अलक दोनों द्वारा प्रणीत समझ लिया हो। अस्तु, इस विषय में किसी निश्चय पर पहुचने के लिये कोई साधन नहीं।

अलक या उल्लट राजानक जयानक का पुत्र बताया जाता है। यदि मि० पीटरसन का मत ठीक हो तो रत्नाकर के हरविजय काव्य पर विषमपदद्योतिका टीका का लेखक यही अल्लट है। महाकवि

रत्नाकर अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (सन् ८५५-८८४ ई०) में था जैसा कि राजतरङ्गिणी (५।३९) से विदित होता है[1]।

अच्छा, इस विषय में एक प्रश्न और भी है। काव्यप्रकाश पर एक सकेत टीका रुय्यक (या रुचक) कृत है। उसकी हस्तलिखित प्रति के प्रथमोल्लास और दशमोल्लास के अन्त में—'इति श्रीराजानक मम्मटालकरुचकानाम्' ऐसा उल्लेख है[2]। इस आधार पर मि० पीटरसन और मि० स्टीन काव्यप्रकाश के प्रणयन में मम्मट और अलक के सिवा रुय्यक या 'रुचक' का सबंध भी कल्पना करते हैं। किन्तु यह कल्पना तो नितान्त निराधार है। प्रथम तो मम्मट और रुय्यक एक-कालीन ही नहीं, फिर और भी बहुत से कारण इस कल्पना के विरुद्ध हैं, जो आगे रुय्यक के निबन्ध में प्रदर्शित किये जायगे। यहां इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि इस उल्लेख द्वारा रुय्यक केवल संकेत टीका का लेखक ही निश्चित किया जा सकता है।

मम्मट का परिचय और समय

'राजानक' उपाधि द्वारा ही स्पष्ट है कि मम्मट काश्मीरी था। राजानक उपाधि काश्मीरी विद्वानों को उच्च सन्मान सूचक काश्मीर की

---

१ देखो हरविजय महाकाव्य पृष्ठ १, २ की पाद टिप्पणी।

२ देखो मि० पीटरसन् की द्वितीय रिपोर्ट पृष्ठ १४

एक महारानी प्रदत्त है[1]। भीमसेनकृत सुधासागर टीका के उल्लेख के आधार पर मि० पीटरसन मम्मट को महाभाष्य पर प्रदीप के लेखक कैयट का भाई और ऋक्प्रतिभाष्य के भाष्यकार ऊवट का बड़ा भाई और जैयट का पुत्र बताता है[2]। किन्तु उस भाष्य में ऊवट ने अपने पिता का नाम वज्रट बतलाया है। और मि० हौल एवं वेबर मम्मट को नैषधकार श्री हर्ष का मामा कल्पना करते हैं। किंतु नैषधीय चरित के लेखक श्री हर्ष कनौजाधिपति श्री जयचन्द्र के आश्रित थे, जिसका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है[3]। और मम्मट का समय लगभग ईसा की ११ वीं शताब्दी का मध्य है। अतः मम्मट और श्री हर्ष समकालीन न होने के कारण यह कल्पना भी निराधार है।

आचार्य मम्मट की उत्तर सीमा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन द्वारा बहुत सरलता से निश्चित हो जाती है। हेमचन्द्र मम्मट के उत्तरकालीन लेखको में सबसे अधिक निकटवर्ती है। हेमचन्द्र ने

---

१ राजतरङ्गिणी में उल्लेख है—

'राज्ञी कृतज्ञभावेन साऽपि मन्त्रिसभान्तरे,
तमाजुहाव निर्द्रोह स्वयं राजानकाख्यया।' ६।२।१

२ देखो मि० पीटरसन की काश्मीर प्रथम रिपोर्ट पृष्ठ ९४

३ देखो जयचन्द्र का दानपत्र इण्डियन एण्टिक्वेरी १५।११ १२ और नैषधीयचरित्र प्रस्तावना, निर्णयसागर प्रेस सन् १८९४ पृ० १०-१५

अपने काव्यानुशासन में काव्यप्रकाश के अनेक लंबे लंबे अवतरण अनेक स्थलों पर लिये हैं। हेमचन्द्र का जन्मकाल सन् १०८८ ई० है[१]। यद्यपि काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका विक्रमाब्द १२१६ (सन् ११६० ई०) की है और रुय्यक की संकेत टीका माणिक्यचन्द्र से भी प्राचीन है[२]। किंतु जब हेमचन्द्र का समय निश्चित है तो निश्चित रूप में मम्मट की अंतिम सीमा ईसा की ११ वीं शताब्दी के बाद कदापि नहीं हो सकती किंतु प्रथम ही मानी जा सकती है। और इसकी पूर्व सीमा ध्वन्यालोक पर लोचन के लेखक श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के समय पर निर्भर है, जिनका समय लगभग १०५० ई० तक है इसकी पुष्टि काव्यप्रकाश में उद्धृत नवसाहसाङ्कचरित काव्य के कई पद्यों से होती है। नवसाहसाङ्क का नायक धारेश्वर भोजराज का पिता सिन्धुराज (या सिन्धुल) है। और मम्मट ने भोज के प्रशंसात्मक वर्णन का—

'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितं'।

काव्यप्रकाश १०।५०५

यह पद्य भी काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। भोज का समय १०५५ ई० तक है। अतः आचार्य मम्मट का समय १०२५ और १०७५ ई० के मध्य में हो सकता है।

---

१ देखिये इस ग्रन्थ में आगे हेमचन्द्राचार्य विषयक निबन्ध।

२ देखिये इसी ग्रन्थ में आगे रुय्यक विषयक निबन्ध।

काव्यप्रकाश पर जितनी टीकाएँ हैं, उतनी अन्य किसी साहित्य-ग्रन्थ पर ही नहीं किंतु संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ पर शायद ही हों। जिनमें, माणिक्यचंद्र, सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, और जयन्त की प्राचीन होने के कारण और गोविन्द ठक्कुर की प्रदीप, विद्वत्तापूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय हैं। और श्री वामनाचार्य झलकीकर की बाल-बोधिनी[1] जिसमें प्रायः पूर्व-प्रणीत अनेक टीकाओं के अवतरणों का भी उल्लेख है, विशेषतया हमारे जैसे स्थूल मतिवालों के लिये अत्यन्त उपयोगी होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

रुय्यक (या रुचक) और उसका अलङ्कारसर्वस्व

अथवा

अलङ्कारसूत्र

अलङ्कारसर्वस्व (या सूत्र) सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिनमें ६ शब्दालङ्कार और ७५ अर्थालङ्कार (७ रसवदादि तथा संकर संसृष्टी को मिला कर) हैं। परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प यह ४ अलङ्कार संभवतः इसी के द्वारा सबसे प्रथम आविष्कृत

[1] यह टीका गवर्नमेंट कालेज पूना के प्रोफेसर श्री वामनाचार्य ने सन् १९०० ईसवी के कुछ पहिले लिखी है और निर्णय-सागर प्रेस बम्बई में मुद्रित हुई है।

हैं। 'विकल्प' के विषय में तो स्वय रुय्यक ने कहा है—'पूर्वैरकृतविवेकोऽत्रदर्शितइत्यवगन्तव्यम्'। और 'विचित्र' के विषय में विमर्शनीकार जयरथ ने कहा है—'एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम्'।

इसमें अलङ्कारों के लक्षण सूत्रों में हैं और वृत्ति में विस्तृत विवेचन और उदाहरण देकर स्पष्टता की गई है। यह ग्रन्थ केवल अलङ्कार-विषयक है। रुय्यक ने ग्रन्थारंभ में पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के विभिन्न मतों पर किये गये विस्तृत विवेचन में ध्वनिकार के मतानुसार ध्वनि-सिद्धांत को काव्य में सर्वोपरि स्वीकार किया है। किन्तु विस्तृत विवेचन इसने अलङ्कार विषय पर ही किया है। यह ग्रन्थ भी साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थों में है। इस ग्रन्थ का अधिक महत्व और उपयोगिता इसकी सार-गर्भित वृत्ति पर ही निर्भर है।

इस ग्रन्थ का एक संस्करण काव्यमाला में जयरथ की अलङ्कार विमर्शनी टीका के साथ अलङ्कारसर्वस्व के नाम से मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के गौरव में जयरथ की महत्वपूर्ण विमर्शनी द्वारा और भी अभिवृद्धि हो गई है। और इसका दूसरा सस्करण त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में समुद्रबंध की टीका के साथ अलङ्कारसूत्र के नाम से मुद्रित हुआ है।

अलङ्कारसर्वस्व का लेखक

सहित्य के अन्य कुछ ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति के लेखक के विषय में भी बड़ी सदिग्धता है। काव्यमाला के

सस्करण के अनुसार सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक एक रुय्यक ही है, जैसा कि उसके प्रारम्भ के—

'नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्।
निजालङ्कारसूत्राणां वृत्यातात्पर्यमुच्यते'॥

इस पद्य के 'निजालङ्कारसूत्राणां' वाक्य से और टीकाकार जयरथ के उल्लेखों से स्पष्ट है। और अलङ्कारसर्वस्व की सञ्जीविनी टीका में श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी प्रारम्भ के—

'रुचकाचार्योपज्ञे सेयमलङ्कारसर्वस्वे।
सञ्जीविनीतिटीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते'॥

और अन्त के—

'इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोयं
टीकास्माभिः समुपरचिता तेन सञ्जीविनीयम्'।

इन पद्यों में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुचक को ही बताया है। 'रुचक' रुय्यक का अपभ्रंश है[१]। बाद के लेखको में प्रतापरुद्रयशोभूषण पर रत्नापण टीका के लेखक कुमारस्वामी ने—'तदुक्त रुचकेन' ऐसा कह कर[२] अलङ्कारसर्वस्व की—'एकार्थाश्रयापि धर्मविषये' इत्यादि वृत्ति (काव्यमाला सस्करण पृ० ५८) उद्धृत की है। और

१ देखो पिशल की शृङ्गारतिलक की भूमिका पृ० २८,२९।

२ देखो रत्नापण पृ० ३९३

भी अनेक स्थलों पर रत्नापण में इसीप्रकार वृत्ति का लेखक रुचक को ही माना गया है। पण्डित राज जगन्नाथ ने भी (रसगं० पृ० २२१,-२५१,३४२,३४३,३५२,) अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों के उद्धरण रुय्यक के नाम से ही दिये हैं।

इसके विपरीत त्रिवेन्द्रम् संस्करण के प्रारम्भ के पद्य में "निजालङ्कारसूत्राणां" के स्थान पर 'गुर्वलङ्कारसूत्राणां' वाक्य मुद्रित है और ग्रन्थान्त में भी—

'इति मङ्खको वितेने काश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम्'॥
त्रिवेन्द्रम सं० पृ० २२८

यह आर्यावृत्त है। अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में (पृ० १०)—

'किन्तु श्लेषस्यालङ्कारविविक्तविषयाभावेन निरवकाशतया बलवत्वेन ·········श्लेषणवनोपमेतिमंखकादिभिरभ्युपेयते'।

यह श्लेष-विषयक विवेचन की अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति का मत दिखाया है। अर्थात् अप्पय भी वृत्ति को मखक् प्रणीत मानता है। मखक् ने स्वयं अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य में लिखा है—

'तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्'।
सौहार्दप्रश्रय रसश्रोतस्सम्भेदमज्जनम्'। (२५।३०)

इन्हीं आधारों पर त्रिवेन्द्रम सस्करण के संपादकों ने सूत्र ग्रन्थ का प्रणेता रुय्यक को और वृत्ति-लेखक मंखक को बताया है। और

उसी के अनुसार सूत्र ग्रन्थ का नाम रुय्यक प्रणीत अलङ्कारसूत्र और वृत्ति ग्रन्थ का नाम अलङ्कारसर्वस्व रक्खा है।

अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में मंखक के श्रीकण्ठचरित के कुछ पद्य भी उदाहरणों में है—

(१) 'आटोपेन पटीयसां' इत्यादि (श्रीकण्ठ० २।४९, अलंकारसर्वस्व त्रिवेन्द्रम्० पृ० १७)

(२) 'मदनगणनास्थाने' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६।७०, अलं० त्रिवेन्द्रम० पृ० ८८)

(३) 'धामालिलिङ्ग' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ५।२३, अलं० त्रिवेन्द्रम० पृ० ९१)

(४) 'स्वपक्षलीलाललितै' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६।१६, अलं० त्रिवेन्द्रम पृ० ९२)

(५) 'मन्दमग्निमधुरर्यं' इत्यादि (श्रीकण्ठ० १०।१०, अल० त्रिवेन्द्रम् पृ० ९३)

इन अवतरणों में प्रथम अवतरण अलङ्कारसर्वस्व में वृत्ति अनुप्रास के उदाहरण में है, उसके आदि में त्रिवेन्द्रम संस्क० में—'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित है। और काव्यमाला सस्करण में (पृ० २१) यह विना नामोल्लेख के मुद्रित है। किन्तु पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण में—'अहीनभुजगाधीश···' पद्य है उसके आदि में त्रिवेन्द्रम सस्करण में 'यथा मखीये श्रीकण्ठस्तवे' और काव्यमाला सस्करण में (पृ० २१) 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित है। ऐसी अवस्था में वृत्तिकार यदि

मखक को माना जाय तो उसके द्वारा अपने नामोल्लेख के साथ अपना पद्य उद्धृत किया जाना अवश्य ही शंकास्पद है। हां, यह एक बात तो निश्चित है कि जो अवतरण श्रीकण्ठस्तव के अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में उदाहरण रूप में हैं, वे काव्यमाला में मुद्रित मंखक-प्रणीत श्रीकण्ठ चरित महाकाव्य के हैं—उसीका अलङ्कारसर्वस्व में श्रीकण्ठस्तव नाम से उल्लेख है। किन्तु अलङ्कारसर्वस्व में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुय्यक है अथवा सूत्रों का लेखक रुय्यक और वृत्ति का लेखक मंखक ? यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि 'मदीये' और 'मखीये' का प्रयोग जो ऊपर दिखाया गया है उसमें 'मदीये' का लेखभ्रम से जिसप्रकार 'मखीये' हो जाना संभव है उसीप्रकार 'मंखीये' का लेख प्रमाद से 'मदीये' हो जाना भी कोई आश्चर्य-कारक नहीं। इसके सिवा समुद्रबध के उल्लेख द्वारा एक नवीन प्रश्न इससे भी बढ़कर, उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वह सूत्र और वृत्ति दोनों मखक प्रणीत ही बताता है, जैसा कि उसकी टीका के प्रारभ के—

'कदाचिन्मंखकोपज्ञं काव्यालङ्कारलक्षणम्।
प्रदर्श्य नस्तितीर्षूणां मंखुकग्रन्थसागरम्'॥ (पृ० २)

इत्यादि पद्यों द्वारा और ग्रन्थान्त के—

'मखुकनिबन्धवृत्तौ विहितायामिहसमुद्रवन्धेन। (पृ० २२८)

इन पद्यों द्वारा स्पष्ट है। यही नहीं, ग्रन्थान्त के—'एवमेते शब्दार्थो भयालङ्काराः सक्षेपतः सूत्रिताः' (सूत्र ८६) इसकी व्याख्या में उसने लिखा है—

'स्वकण्ठेनानुक्तिशङ्कानिरासाय सूत्रस्थस्य संक्षेपतः इति पदस्यान्वयदर्शनामुखेन व्याचष्टे' (पृ० २२७)

इसके द्वारा भी स्पष्ट है कि वह सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मखक को ही बताता है।

इन उपर्युक्त आधारों द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुंचना बड़ा कठिन है। क्योंकि इनमें विभिन्न तीन मत हैं, जो परस्पर में विरुद्ध हैं—

(१) एक मत जिसमें सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुय्यक माना गया है, उसके प्रतिपादक टीकाकार जयरथ, श्रीविद्याचक्रवर्ती, कुमारस्वामी और पण्डितराज जनन्नाथ आदि हैं।

(२) दूसरा मत-जिसमें सूत्रकार रुय्यक और वृत्तिकार मखक को माना है, इसके प्रतिपादक त्रिवेन्द्रम सस्करण की हस्तलिपी, और वर्नल कैटलौग में उल्लिखित एक हस्तलिखित प्रति जिसके आदि अन्त में त्रिवेन्द्रम संस्करण के अनुसार पाठ है।

(३) तीसरा मत टीकाकार समुद्रबध का है, जो सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मखक को ही बताता है।

अब हम इन मतों पर विचार करते हैं तो प्रथम मत में सूत्र और कारिका दोनों का लेखक रुय्यक को वतानेवाला सर्वप्रथम जयरथ है। अन्य लेखकों ने सभवतः उसी का गड्डुरिका न्याय से अनुसरण किया है। जयरथ यद्यपि रुय्यक का सबसे निकटवर्ती—लगभग ७५ वर्ष वाद का १२२५ ई० का—सर्व प्रथम टीकाकार और तद्देशीय है,

किन्तु जिस प्रति के आधार पर जयरथ ने टीका लिखी है, उस हस्त-लिखित अलङ्कारसर्वस्व की प्रति के विषय में वह स्वयं लिखता है—

'अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चात् कैरपि पत्रिकाभिर्लिखित इति प्रसिद्धिः। तैश्चानवधानादुदाहरण पत्रिका न लिखिता अतिदेशवाक्यं च पत्रिकान्तरालिखितमितिग्रन्थस्यासङ्गतत्वम् ......इति उदाहरणान्यत्र मध्ये लिखितव्यानि येन ग्रन्थस्य सङ्गति.स्यात्' (पृ० १०८) और—'लेखकैश्चास्य ग्रन्थस्य प्रति-पदमेव विपर्यासः कृतः' (पृ० १२६)।

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि उस प्रति के लिखने में लेखकों द्वारा बड़ा प्रमाद किया गया था। संभव है त्रिवेन्द्रम् सस्करण की हस्तलिखित प्रति के आदि और अत का वह भाग जिसमें मखक का नामोल्लेख था, जयरथ के हस्तगत जो प्रति हुई, उसमें लेखक-प्रमाद से छुट गया हो। अतएव जयरथ का ग्रन्थकर्त्ता के विषय में जो उल्लेख है, वह भी एक वार ही विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

तीसरा मत समुद्रबंध का भी अग्राह्य है। क्योंकि वह ग्रन्थारंभ की वृत्ति के आदि के 'गुर्वलङ्कारसुत्राणां' इसकी व्याख्या में 'गुरु' शब्द का अर्थ 'गुरु' या 'रुय्यक' न करके 'गुर्वित्यनेन विवक्षितस्य तात्पर्यस्यावश्यवक्तव्यता दर्शयति' यह अर्थ करता है, जोकि अप्रसिद्ध होने के कारण स्वीकार करने योग्य नहीं। फिर समुद्रबंध लगभग सन् १३०० ई० का लेखक होने से जयरथ का परवर्ती भी है। अतएव

केवल इसके आधार पर इस ग्रन्थ का रुय्यक के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छिन्न किया जाना वस्तुतः रुय्यक के साथ अन्याय है।

अब रहा द्वितीय मत। यह भी संदिग्ध है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि रुय्यक और मखक का गुरु-शिष्य सम्बन्ध था जैसा कि श्रीकण्ठचरित में मखक ने स्पष्ट कहा है। अतः यद्यपि मखक द्वारा रुय्यक के सूत्रों पर वृत्ति लिखा जाना संभव हो सकता है। पर इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि वृत्ति को मंखक-प्रणीत मान ली जाय तो फिर केवल सूत्र ग्रन्थ का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ का जो कुछ गौरव है, वह इसकी वृत्ति पर ही निर्भर है। और वृत्ति के प्रारम्भ भाग में किये गये विवेचन पर ध्यान देने पर भी यही प्रतीत होता है कि वह सभवतः सूत्रकार द्वारा ही लिखी गई है।

ऐसी परिस्थिति में सूत्र ग्रन्थ का लेखक तो संभवतः रुय्यक ही हो सकता है। और वृत्ति का लेखक संभवतः न तो केवल रुय्यक ही है और न केवल मखक, किंतु रुय्यक द्वारा लिखे गये वृत्ति-ग्रन्थ में मखक द्वारा कुछ परिवर्द्धन किया गया हो। अस्तु, निश्चयात्मक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

रुय्यक और मम्मट

काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका के लेखक श्री वामनाचार्य की भूमिका (पृ० २१) से विदित होता है कि काव्यप्रकाश के 'प्रदीप'

आदि कुछ टीकाओं के लेखक रुय्यक को आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती बताते हैं। इसी आधार पर हमारी भी यही धारणा थी, किन्तु यह कल्पना निर्मूल है। उन्होंने यह कल्पना जिन आधारों पर की है, वे यह हैं—

काव्यप्रकाश में शब्दालङ्कार संकर का—

'एवं रूपश्च संकरःशब्दालङ्कारयोरपि परिदृश्यते—राजति तटीयमभिहत·····' अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्र-भेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे'। (काव्यप्रकाश पृ० ९२३)।

इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। और अलङ्कारसर्वस्व में रुय्यक ने—

'शब्दालङ्कारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा राजतितटीयमभि-हत·····' अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालङ्कारयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गिसंकर इति—एत्तु न सम्यगावर्जनम्'

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९९)।

वामनाचार्य कहते हैं कि यह मम्मट ने रुय्यक की आलोचना की है। किंतु इन अवतरणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि मम्मट ने तो आलोचनात्मक कुछ भी शब्द न लिख कर केवल साधारणतया शब्दा-लङ्कारसकर दिखाया है। प्रत्युत रुय्यक ने मम्मट के उन्हीं शब्दों को उदाहरण सहित उद्धृत करके उसकी आलोचना की है। और रुय्यक के अत्यंत निकटवर्ती विमर्शनीटीकाकार ने स्पष्ट कहा है—'कैश्चिदिति काव्यप्रकाशकारादिभिः' (पृष्ठ १९९)।

अलङ्कारसर्वस्व में उपमानाधिक्य व्यतिरेक अलङ्कार के उदाहरण में—'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्' यह पद्य लिखा है (पृष्ठ ८० काव्यमाला संस्करण) और मम्मट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक को स्वीकार न करते हुए इसी पद्य को उद्धृत करके खण्डन किया है (काव्यप्रकाश पृष्ठ ७८४) इसी आधार पर वामनाचार्य ने यह मम्मट द्वारा रुय्यक के मत का खण्डन बताया है। किंतु यह भी भ्रमात्मक कल्पना है। वास्तव में बात यह है कि मम्मट और रुय्यक दोनों के पूर्ववर्ती रुद्रट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक स्वीकार करके यही—क्षीणःक्षीणोऽपिशशी ··· ·' उदाहरण दिया है, अतएव मम्मट ने जो आलोचना की है, वह रुद्रट के विरुद्ध है, न कि रुय्यक के। रुय्यक ने तो मम्मट का अनुसरण न करके रुद्रट का अनुसरण-मात्र किया है।

यही नहीं, और भी अनेक स्थलों पर रुय्यक ने मम्मट की आलोचना की है। जैसे—'राजन्राजसुता न पाठ्यति मा··· ···' इस पद्य के आगे काव्यप्रकाश मे अप्रस्तुतप्रशसा के उदाहरण में—

'अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्' (काव्यप्रकाश पृ० ७५२)

यह वृत्ति है। रुय्यक ने इस पद्य को उद्धृत करके—

'इत्यत्र पर्यायोक्तमेववोध्यम्। अन्येतु दण्डयात्रोद्यत त्वा बुध्वा त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुतत्वं···वर्णयन्ति' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १०७ काव्यमाला सस्करण)

इसप्रकार मम्मट की प्रत्यक्ष आलोचना की है। यही क्यों, काव्यप्र० ४।३८ की—अलङ्कारोथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते, इस कारिका को रुय्यक ने (अलङ्कारसर्वस्व श्लेष प्रकरण में) उद्धृत की है जिसके विषय में विमर्शनीकार ने स्पष्ट लिखा है—"उक्तं इति काव्यप्रकाशकृता" (पृ० १०२)। इसीप्रकार समुद्रबंध ने भी लिखा है—"इत्यत्र काव्यप्रकाशवचनं संवादकत्वेनाह" (पृ० १०९)। अतएव निस्सन्देह रुय्यक ही मम्मट का परवर्ती है।

रुय्यक का परिचय और समय

राजानक उपाधि ही इसका काश्मीरी होना सिद्ध करती है। यह राजानक तिलक का पुत्र था। तिलक ने उद्भट के काव्यालङ्कार सारसंग्रह पर उद्भटविवेक या उद्भटविचार लिखा है[1]। रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व के अतिरिक्त महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक पर व्यक्तिविवेक विचार[2], काव्यप्रकाश पर संकेत टीका[3], सहृदयलीला, और अलङ्कारा-

---

1 देखो अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शनी टीका पृ० ११५,-१२४,२०५।

2 देखो विमर्शनी टीका पृ० १३ में—'इति व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतम् इतिभावः'।

3 जयरथ ने लिखा है—'यत्तु काव्यप्रकाशसंकेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनि......' अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०२।

नुसारिणी[1] आदि और भी ग्रन्थ लिखे हैं।

रुय्यक ने विक्रमाङ्कदेवचरित का उल्लेख किया है, जो मि० बूल्हर (Bulher) के अनुसार सन् १०८५ ई० में लिखा गया है। और—'आसमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः' इत्यादि राजतरङ्गिणीका (४।४४१) पद्य भी उद्धृत किया है (अलङ्कार सर्वस्व पृ० ९३ का० मा० सस्क०)। और काव्यप्रकाश की सकेत टीका में जिसका समय ११५९-६० ई० हैं माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक का कई बार नामोल्लेख किया है[2]। अतएव अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक का समय ईसा की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण के लगभग प्रतीत होता है।

मंखक का परिचय और समय

रुय्यक का शिष्य मखक, विश्वावर्त्त का पुत्र तथा मन्मथ का पौत्र था। यह श्रीकण्ठचरित महाकाव्य का प्रणेता है। इसका समय ११४५ ई० है। यह ग्रन्थ मंखक की कवित्वशक्ति और विद्वत्ता का परिचायक है। यह काश्मीर के राजा जयसिंह का मन्त्री था। जयसिंह का समय ११२८–११४९ ई० है। और मंखक के श्रीकण्ठचरित के पद्य रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व में उद्धृत हैं, इसके द्वारा

---

१ इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख मि० पिशल ने शृङ्गारतिलक की भूमिका में किया है।

२ देखो काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र-प्रणीत सकेत टीका

भी अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक का समय लगभग ११२५ ई० के प्रथम किसी प्रकार नहीं हो सकता है।

रुय्यक के टीकाकार जयरथ और समुद्रवन्ध का परिचय और समय

रुय्यक ने भोजराज का (पृ० १२१,१९५), काव्यप्रकाश का (पृ० ३-२६,५५,६३,१०२), राजतरङ्गिणी का (पृ० १९४), अभिनवगुप्तपादाचार्य का (पृ० ११३), कुन्तल का (पृ० १५०) तथैव कुछ अन्य ग्रन्थकारों का भी नामोल्लेख किया है। जयरथ ने तन्त्रालोक की विवेक टीका में अपना परिचय देते हुए पिता का नाम श्रृङ्गाररथ और उसे राज-राज या राजदेव का मंत्री बताया है। राजदेव का समय १२०३–१२२६ ई० है। जयरथ के प्रपितामह का भाई शिवरथ काश्मीर के राजा उच्छल का मंत्री था। शिवरथ का समय ११०१—११११ ई० है*। जयरथ ने पृथ्वीराजविजय काव्य का उल्लेख भी किया है (पृ० ६४) पृथ्वीराज ११९३ ई० में वन्दी हुआ था अतएव जयरथ का समय १२२५ ई० के लगभग हो सकता है।

रुय्यक का दूसरा टीकाकार समुद्रवंध केरलदेशीय कोलंब के राजा रविवर्म के समकालीन है, जैसा कि उसने टीका के प्रारभ के

---

* देखो राजतरङ्गिणी ८।१११।

पद्यों में कहा है। रविवर्म का समय त्रिवेन्द्रम संस्करण के उपोद्-घात में १२६५ ई० का लिखा हुआ है।

भरतमुनि और अग्निपुराण के बाद भट्टि से वामन तक अलङ्कारों के क्रम-विकास का प्रारम्भिक काल था—जब कि अलङ्कारों की संख्या लगभग ५० तक रही थी, जैसा कि इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कारविवरण-तालिका संख्या १ में दिखाया जायगा। उसके बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक इन चारों तक उस क्रम-विकास का दूसरा काल है। रुय्यक के समय तक अलङ्कारों की सख्या बढ़ कर द्विगुण अर्थात् लगभग एक सौ तीन तक पहुँच गई है। रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के समय तक निरूपित अलङ्कारों की विवरण-तालिका भी द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्ग दी जायगी।

वाग्भट (प्रथम) और उसका वाग्भटालङ्कार

वाग्भटालङ्कार काव्यमाला में सिंहगणि की टीका समेत मुद्रित हुआ है। उसमें ५ परिच्छेद हैं, जिनमें चार परिच्छेदों में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, कवि-शिक्षा, कवि-समय, काव्योपयोगी संस्कृतादि चार भाषा, काव्य का गद्य-पद्य विभाग, पद, वाक्य, दोष, गुण, ४ शब्दालङ्कार, ३५ अर्थालङ्कार और वैदर्भी आदि रीतियां

हैं और पांचवे में नवरस नायक-नायिकादि भेद निरूपित है। उदाहरण ग्रन्थकर्त्ता के स्वय प्रणीत हैं।

वाग्भट जैन विद्वान् था। इसका प्राकृत भाषा में 'वाहट' नाम था। यह सोम का पुत्र था[1]। टीकाकार सिंहगणि ने इसको कवीन्द्र और महाकवि एव राजमत्री बताया है[2]। इसका समय विक्रमीयाब्द ११७८ (११२१-२२ ई०) निश्चित है[3]। और उसने यह भी लिखा है—

'श्रीमद्वाग्भट्टदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत्।
शिखीन्दुरपि वर्षे च ध्वजारोपं व्यधापयत्'॥

इसके द्वारा विक्रमाब्द १२१३ (११५६ ई०) तक इसका विद्यमान रहना भी ज्ञात होता है। वाग्भट ने इस ग्रन्थ के उदाहरणों मे कर्णपुत्र जयसिंह राजा का वर्णन किया है, जिसका समय १०९३-११४३, ई० है[4]। काव्यमाला में मुद्रित ग्रन्थ के सपादकीय लेख में इस ग्रन्थ पर पाच टीकाओं के उपलब्ध होने का उल्लेख है। काव्यानुशासन ग्रन्थ का प्रणेता वाग्भट दूसरा है, जिसका उल्लेख

---

१ देखिये मुद्रित ग्रन्थ का सम्पादकीय लेख।

२ देखिये ४।१४८ के पद्य के आदि में टीकाकार की उत्थानिका।

३ प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र ने प्रभाकर चरित्र में लिखा है—'शतैकादशके साप्टा ससतौ विक्रमार्कतः'। इत्यादि।

४ देखिये इंडियन एंटिक्वायरी जिल्द ४

आगे किया जायगा। और एक वैद्यक ग्रन्थ जो 'वाग्भट' के नाम से प्रसिद्ध है उसका प्रणेता वाग्भट अन्यतम है जिसके पिता का नाम सिंहगुप्त था।

हेमचन्द्र जैनाचार्य और उसका काव्यानुशासन

काव्यानुशासन सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। उस पर हेमचन्द्र ने स्वयं अलङ्कारचूड़ामणि नामक वृत्ति और विवेक नामक टीका लिखी है। काव्यानुशासन में ८ अध्याय हैं। जिनमें शब्द, अर्थ के लक्षक, लक्ष्य आदि भेद, रस-दोष, तीन गुण, छः शब्दालङ्कार और २९ अर्थालङ्कार एवं नायिकाभेद आदि विषय निरूपण किये गये हैं। यह ग्रन्थ प्रायः सग्रहात्मक है। इसमें ध्वन्यालोक[१] और उसकी लोचन टीका, अभिनवभारती,[२] काव्यमीमांसा[३], वक्रोक्तिजीवित तथा काव्य-

---

१ देखिये, ध्वन्यालोक निर्णयसागर सन् १८९१ संस्करण पृ० ८९-९४ और काव्यानुशासन निर्णयसागर प्रेस सन् १९०१ संस्करण पृ० १८-२२ आदि।

२ काव्यानुशासन पृष्ठ ५७ से ६६ तक तथा ८१-८२ में अभिनवभारती का अक्षरशः अनुवाद दृष्टिगत होता है।

३ देखिये काव्यमीमांसा पृ० ५६,४२,४४ और काव्यानुशासन पृ० ८,१०,११,१६ और १२२-१२३।

प्रकाश॰ से पर्याप्त सहायता ली गई है यहांतक कि इन ग्रन्थों के प्रायः बड़े लंबे-लबे अवतरण मूल ग्रन्थ एवं विवेक टीका में अक्षरशः ले लिये गये हैं, किन्तु जिन ग्रन्थों के अवतरण लिये गये हैं उनमें किसी ग्रन्थ का भी नामोल्लेख नहीं किया गया है। हां, अभिनव-गुप्ताचार्य के विषय में—

'साधारणी भावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनव-गुप्ताचार्यः। एतन्मतमेवास्माभिरुपजीवितं वेदितव्यम्'

—काव्यानुशासन पृ० ६६

इन वाक्यों द्वारा विवेक में कृतज्ञता अवश्य प्रदर्शित की गई है। काव्यानुशासन द्वारा हेमचन्द्र की संग्रह-योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है, किन्तु मौलिकता का नहीं। इस ग्रन्थ में महाराजा भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण की भांति उदाहरणों के संग्रह का बाहुल्य है—लगभग १४०० पद्यों के उदाहरणों द्वारा विषय की स्पष्टता की गई है। अतएव इसमें सन्देह नही कि काव्यानुशासन कवि और काव्य-प्रेमी जनों के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

हेमचन्द्र का परिचय और समय

हेमचन्द्र श्वेतावर जैनाचार्य था यह प्रतिभाशाली विद्वान् था।

॰ काव्याप्रकाश का तो बहुत ही अधिक अंश स्थल-स्थल पर लिया गया है यदि दो चार स्थलों पर ही होता तो पृष्ठ लिखे जाते।

जैन लेखकों में इसका स्थान सर्व प्रधान है। हेमचन्द्राचार्य ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। मुद्रित काव्यानुशासन के प्राक्कथन में इसको अनेक लक्ष पद्यात्मक ग्रन्थों का निर्माता बताया गया है।

हेमचन्द्र की जीवनी मि० जेकोबी और मि० व्हूलर ने लिखी है[1]। उसके द्वारा ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र का जन्म धुंधुक–अहमदाबाद–में सन् १०८८ में हुआ था, इसका नाम चांगदेव था। जब यह १०९८ ई० में जैन साधु हुआ, तब इसका नाम सोमदेव रक्खा गया और उसके बाद विक्रमीयाब्द ११६६ (११११ ई०) में इसका नाम हेमचन्द्र हुआ। यह वज्रशाखा के देवचन्द्र का शिष्य था। हेमचन्द्र विरचित शलाकापुरुषचरित प्रशस्ति द्वारा ज्ञात होता है[2] कि हेमचन्द्राचार्य चौलुक्य कुमारपाल राजा के बड़े श्रद्धेय थे। इसी राजा के राज्य-काल में इनका परलोक गमन हुआ था। कुमारपाल का राज्य-काल विक्रमाब्द ११९९ से १२३० (११४२ से ११७३ ई०) तक है[3]।

---

१ देखो इनसाइक्लोपेडिया आव् रीलीजन एथिक्स ६।५९१

२ देखो निर्णयसागर संस्करण काव्यानुशासन भूमिका पृ० २,३।

३ देखो निर्णयसागर काव्यानुशासन भूमिका पृ० ३ और पृ० ५।

पीयूषवर्ष जयदेव और उसका चन्द्रालोक

चन्द्रालोक में १० मयूख हैं। प्रथम मयूख में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, शब्द के रूढ़ि आदि भेद, दूसरे में दोष, तीसरे में कवि-शिक्षा विषय, चौथे में १० गुण, पाँचवें में अलङ्कार, छठे में रस, भाव, रीति और वृत्ति, सातवें में व्यञ्जना और ध्वनिभेद, आठवें में गुणीभूत-व्यङ्ग्य, नवे में लक्षणा और दशवें में अभिधा का निरूपण है।

जयदेव के चन्द्रालोक की रचना शैली उसके पूर्ववर्ती आचार्यों से विलक्षण है। प्रायः एक ही अनुष्टुप् पद्य के पूर्वार्द्ध में निरूपणीय विषय का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उसका उदाहरण दिखाया गया है। चन्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और उपभेदों की गणना न की जाय तो लगभग ८१ अर्थालङ्कार निरूपण किये हैं जिनमें उभयन्यास, अभाव, अवशार, अहेतु, पूर्व, भाव, मत, वितर्क, साम्य और सभव यह १० अलङ्कार अपने पूर्ववर्ती रुद्रट तथा भोज द्वारा निरूपित नहीं दिखाये हैं और दो शब्दालङ्कार और १४ अर्थालङ्कार* अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक निरूपण किये हैं। इनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनके लक्षण या उदाहरण जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के भेदों में गतार्थ हो जाते हैं। संभव है जयदेव ने कुछ अल-ङ्कार अपने किसी पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्य के किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ

---

* इन अलङ्कारों के नाम द्वितीय भाग के अन्तर्गत अलङ्कार सम्प्रदाय में लिखे जायंगे।

से लिये हों क्योंकि इसने स्वयं ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि यह अलङ्कार मेरे द्वारा नवाविष्कृत हैं।

चन्द्रालोक के अलङ्कार-विषयक पञ्चम मयूख को, अप्पय्य दीक्षित ने परिवर्द्धित करके 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें चन्द्रालोक की कारिकाओं की शैली पर कुछ कारिकाओं की नवीन रचना करके उनको भी चन्द्रालोक के नाम से ही सम्मिलित कर दी है। इस विषय में गुजराती प्रिंटिंग (बम्बई) से मुद्रित चन्द्रालोक के संपादकीय निवेदन में भी—

"दक्षिणदिग्वास्तव्यद्रविडपुङ्गवश्रीमदप्पय्यदीक्षितानामिम-मालंव्य कुवलयानन्दप्रणयनप्रवृत्योन्नेतुंयुक्तम्। नहि संभवति तादृशोविपश्चित्‌··· ·· · परग्रन्थमालम्ब्याधिकसौष्ठवार्थं च प्रायः सर्वत्र क्वचित्पदं, क्वचित्पाद क्वचित्पादद्वयमपि विपरि-णमय्य ग्रन्थमारचयेत्।"

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट कहा गया है।

जयदेव का परिचय और समय

'पीयूषवर्ष' जयदेव की उपाधि थी। चंद्रालोक में स्वयं जयदेव ने कहा है-"चन्द्रालोकममुं स्वय वितुनते पीयूषवर्षः कृती" (१।१२) और जयदेव का भी नामोल्लेख किया है—"अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते=' (चन्द्रा० १।१६)। प्रसन्नराघव नाटक का प्रणेता भी यही जयदेव है, किन्तु गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव से यह भिन्न है।

इसने अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है (चंद्रा० १।१६) और गीतगोविन्द के निर्माता जयदेव, भोजदेव और रामदेवी के पुत्र थे।

जयदेव का समय अनिश्चित है। इसने चंद्रालोक में अपने पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं किया है। किन्तु चंद्रालोक के—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती'॥

—चंद्रालोक १।८

इस पद्य में काव्यप्रकाश के—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस काव्य-लक्षण के 'अनलंकृती' शब्द पर स्पष्ट आक्षेप है। अतएव जयदेव का समय मम्मट के बाद है और रुय्यक के भी, क्योंकि रुय्यक के नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प इन दोनों अलङ्कारों के लक्षण इसने रुय्यक के अनुसार दिये हैं। अतएव जयदेव की पूर्व सीमा सन् ११५० ई० के बाद निश्चित हो जाती है; और जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का—

'कदलीकदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः'।

प्रसन्नरा० १।३७

यह पद्य केशव मिश्र ने[१] और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में[२] उद्धृत

१ देखो केशव मिश्र का अलङ्कारशेखर मरीचि १३ पृ० ४७।

२ देखो साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि का उदाहरण।

किया है। और शारङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के पद्य संग्रहीत हैं। शारङ्गधरपद्धति का समय १३६३ ई० है। और सिंहभूपाल प्रणीत रसार्णवसुधाकर (पृ० २५८,२७७) में भी प्रसन्नराघव का नामोल्लेख है। सिंहभूपाल का समय १३३० ई० निश्चित है। इन आधारों पर जयदेव का समय ईसा की १२ वीं और १३ वीं शताब्दी के मध्य में हो सकता है।

चंद्रालोक पर प्रद्योत भट्ट ने शरदागम टीका लिखी है, जो बुंदेल राजकुमार वीरभद्र के आश्रित था। इसी प्रद्योत ने वात्स्यायन काम सूत्र पर भी १५७७ ई० में टीका लिखी है। दूसरी टीका 'रमा' है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। 'रमा' के लेखक ने 'शरदागम' टीका के सिवा चंद्रालोक की अन्य टीकाओं का भी नाम-रहित उल्लेख कई स्थलों पर किया है। तीसरी टीका 'राका' या सुधा नाम की गाङ्गभट्ट—विश्वेश्वर कृत १७ वी शताब्दी की है। कुवलयानन्द युक्त चद्रालोक के पञ्चम मयूख पर अलङ्कारचंद्रिका नाम की टीका वैद्यनाथ सूरि कृत है।

भानुदत्त और उसकी रसतरङ्गिणी
तथा
रसमञ्जरी

भानुदत्त के रसतरङ्गिणी और रसमञ्जरी ग्रन्थ साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं। इसने यह दोनों ग्रन्थ रस विषय पर लिखे हैं। रसतरङ्गिणी

में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी एवं स्थायी भाव और शृङ्गारादि रसों का निरूपण है। रसमञ्जरी में प्रधानतया नायिका भेद का ही वर्णन है। यह दोनों ग्रन्थ शृङ्गार रस प्रधान हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में उदाहरण ग्रन्थकार ने स्वयं प्रणीत दिये हैं। भानुदत्त ने रसमञ्जरी के अन्तिम पद्य में स्वयं लिखा है कि वह गणेश्वर का पुत्र विदेह देशीय था। इसने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। एक अलङ्कारतिलक ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में भानुदत्त प्रणीत है। वह भी संभवतः इसी भानुदत्त का है। अलङ्कारतिलक में दो अलङ्कार अनध्यवसाय और भङ्गि नवीन है। इन दोनों अलङ्कारों का इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में निरूपण नहीं किया गया है। वस्तुतः 'अनध्यवसायतो' संदेह अलङ्कार में गतार्थ है और 'भङ्गि' के उदाहरण प्रायः समासोक्ति में गतार्थ है। इसके अतिरिक्त इसने एक ग्रन्थ गीतगौरीश भी गीतगोविन्द के आदर्श पर लिखा है।

इसने—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्'। यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १४५) से अथवा महिम के व्यक्तिविवेक (पृ० ३१) से लिया है। और धनञ्जय के दशरूप तथा रुद्र के शृङ्गारतिलक का भी (पृ० ६८) नामोल्लेख किया है। अतएव यह गीतगोविंद प्रणेता जयदेव (ईसा की १२ वीं शताब्दी) के बाद का निश्चित होता है। और रसमञ्जरी पर गोपदेव ने विकास नामक टीका १४३७ ई० में लिखी है और शारङ्गधरपद्धति (लगभग १३६३ई०) में भी भानु पण्डित के नाम से कुछ पद्य लिखे गये हैं। अतएव

भानुदत्त का समय संभवतः ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी का मध्यकाल है ।

विद्याधर और उसका एकावली

एकावली मल्लिनाथ की तरल नामक टीका के साथ बाँबे सस्कृत सीरीज (B. S S) में मुद्रित हुआ है । इसमे कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीनों अंश ग्रन्थकार के स्वयं प्रणीत हैं । और उदाहरण, उत्कल—उड़ीसा—के राजा नरसिह की प्रशंसात्मक हैं । इसमें आठ उन्मेष हैं । प्रथम उन्मेष में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, और भामह आदि के मत पर विवेचन है । दूसरे में शब्द, अर्थ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, तीसरे में ध्वनि-भेद, चौथे में गुणीभूतव्यङ्ग्य, पाचवे में तीन गुण और रीति, छठे में दोष, सातवें में शब्दालङ्कार और आठवें में अर्थालङ्कार निरूपण हैं । यह ग्रन्थ प्राय. ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व पर अवलम्बित है । इसने नाट्य विषय पर केलिरहस्य ग्रन्थ भी लिखा है ।

विद्याधर का समय

विद्याधर ने वामन, भोज, अभिनव, मम्मट रुय्यक आदि का और अन्तिम लेखक नैषधीयचरित के प्रणेता श्री हर्ष का भी नामो-

ल्लेख किया है। और रुय्यक द्वारा नवाविष्कृत परिणाम, विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी इसने लिखे हैं। रुय्यक का समय १२ वीं शताब्दी है, और नैषधकार का भी यही समय है। अतः विद्याधर की पूर्व सीमा १२ वीं शताब्दी के अन्त में अथवा १३ वीं के प्रथम चरण के पूर्व नहीं हो सकती। और सिंहभूपाल ने रसार्णव में-जिसका समय १३३० ई० है, एकावली का उल्लेख किया है। और जिस कलिंग के राजा नृसिंहदेव या नरसिंह का विद्याधर ने वर्णन किया है, वह द्वितीय कलिंग कहा जाता है, और उसका समय १२८०–१३३४ ई० है। अतः विद्याधर का समय संभवतः लगभग १२७५–१३२५ ई० है।

एकावली का टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ वही है, जो कालिदास, भारवि, और माघ आदि के सुप्रसिद्ध काव्यों का टीकाकार है। इसने अपनी अन्य टीकाओं में एकावली के उद्धरण भी दिये हैं। मल्लिनाथ का समय डा० भण्डारकर और श्री त्रिवेदी ने १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निश्चित किया है।

विद्यानाथ और उसका प्रतापरुद्रयशोभूषण

यह ग्रन्थ आन्ध्र प्रान्त के काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के आश्रित विद्यानाथ ने लिखा है। यह ग्रन्थ दक्षिण प्रांत में अधिक

प्रसिद्ध है। प्रतापरुद्र को वीरभद्र अथवा रुद्र भी कहा गया है। इसकी राजधानी एकशिला थी, जिसे अब वारंगल अथवा औरंगल कहते हैं। यह ग्रन्थ बोंबे संस्कृत सीरीज में कुमारस्वामी की रत्नापण टीका के साथ मुद्रित हुआ हैं। इसमें ९ प्रकरण हैं—नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार। इसमें भी प्राचीन परम्परानुसार कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरणों में प्रतापरुद्र का यशोगान है और उसी के अनुसार इसका नामकरण है। विद्यानाथ ने लिखा है—

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवेस्तुनः' ॥

प्रताप० १।९

विद्यानाथ ने अलङ्कार प्रकरण में यद्यपि रुय्यक का अनुसरण किया है, उसके विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी लिखे हैं, तथापि अधिकतया काव्यप्रकाश का ही अनुसरण है। नाटक प्रकरण में 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक छोटासा नाटक भी उदाहरण रूप में दिया गया है।

विद्यानाथ का समय

प्रतापरुद्र, राजा महादेव और रुद्राम्बा की पुत्री मुम्मरी का पुत्र था (पृष्ठ १२,१३,१६ आदि)। यह एकशिला—वारंगल का

सातवां काकतीय राजा था। इसका समय मि० पिशल ने १२९५-१३२३ ई० बताया है। और शेषगिरी शास्त्री ने १२६८-१३१९ ई०। यही प्रतापरुद्र विद्यानाथ का आश्रय दाता था। विद्यानाथ और एकावली का प्रणेता विद्याधर समकालीन थे। अतः विद्यानाथ का समय भी १२७५-१३२५ ई० माना जा सकता है।

इसके टीकाकार कुमारस्वामिन् ने स्वयं अपने पिता का नाम कोलाचल मल्लिनाथ लिखा है, वही मल्लिनाथ जो रघुवशादि महाकाव्य और एकावली का टीकाकार है। कुमारस्वामिन् ने अन्य प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, एकावली, रसार्णवसुधाकर, भट्ट गोपाल और नरहरि सूरि का नामोल्लेख भी किया है। और इसने शारदातनय-प्रणीत भावप्रकाश नामक ग्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है, जो भोज राजा के शृङ्गारप्रकाश का सार रूप है।

—:※:—

वाग्भट्ट (द्वितीय) का काव्यानुशासन

यह ग्रन्थ वाग्भट्ट की स्वय प्रणीत अलङ्कारतिलक टीका सहित काव्यमाला में मुद्रित है। यह सूत्रवद्ध ग्रन्थ हैं। टीका में उदाहरण भी दिये गये हैं। इसमें ५ अध्याय हैं, जिनमें काव्य-प्रयोजन, कवि-समय, काव्य-लक्षण, दोप, गुण, रीति, ६४ अर्थालङ्कार, ६ शब्दालङ्कार, नवरस और उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं

नायक नायिकादि भेद निरूपण किये गये हैं। इसने एक 'आशी' अलङ्कार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और चार अलङ्कार भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित यह पांच अलङ्कार ऐसे लिखे हैं, जिनको इनके आविष्कारकों के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नहीं किये थे। और २ अलङ्कार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे हैं किन्तु यह दोनों ही महत्व-सूचक नहीं, जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचीनों के तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और काव्यमीमासा से पर्याप्त सहायता ली गई है।

वाग्भट ने काव्यानुशासन के प्रारम्भ में अपना परिचय स्वयं लिखा है। यह नेमिकुमार और महादेवी का पुत्र था। इसने वाग्भटालङ्कार के प्रणेता वाग्भट (प्रथम) का भी नामोल्लेख किया है—'इतिवामनवाग्भटादिप्रणीतादशकाव्यगुणाः' (पृ० ३१) अतः यह वाग्भट द्वितीय है। और प्रथम वाग्भट का परवर्ती है। इसके काव्यानुशासन की जिस हस्तलिखित प्रति का नामोल्लेख इगलिंग कैटलौग नबर ११५७ पर है, उस प्रति पर विक्रमीयाब्द १५१५ (१४५८-५९ ई०) है। अतः इसका समय सभवतः १४ वीं शताब्दी है।

विश्वनाथ और उसका साहित्यदर्पण

मम्मटाचार्य और रुय्यक के पश्चात् अलङ्कार शास्त्र का उल्लेखनीय लेखक विश्वनाथ ही है। इसका साहित्यदर्पण अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। इसके बहुत से संस्करण कलकत्ता, बम्बई और बनारस से निकल चुके हैं। इसमें भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं। और १० परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रयोजन और काव्यप्रकाश एवं ध्वनिकारादि के काव्य लक्षणों पर आलोचना के बाद विश्वनाथ ने—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह काव्य लक्षण लिखा है। दूसरे में वाक्य का लक्षण और अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तीसरे में रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद, चौथे में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेद, पांचवें में व्यञ्जना की स्थापना, छठे में दृश्य-काव्य—नाटकादि का विस्तृत विवेचन, सातवें मे दोष निरूपण, आठवें में तीन गुण, नवे में वैदर्भी आदि रीति और दशवें में १२ शब्दालङ्कार, ७० अर्थालङ्कार एवं ७ रसवदादि अलङ्कार, इसप्रकार ८९ अलङ्कारों का निरूपण है।

साहित्यदर्पण में यह विशेषता है कि इस एक ही ग्रन्थ में काव्य के दृश्य और श्रव्य दोनों भेदों का विस्तृत निरूपण है। विश्वनाथ एक उल्लेखनीय महाकवि एवं विद्वान् था। इसने और भी बहुत से ग्रन्थ निर्माण किये हैं, उनका साहित्यदर्पण में नामोल्लेख है। यद्यपि इसका विषय-विवेचन धाराप्रवाह एवं सरल होने के कारण प्रशंसनीय

अवश्य है, किन्तु साहित्य के सुप्रसिद्ध और सन्मान्य आचार्य ध्वनिकार एव आचार्य मम्मट के समान इसे उच्च स्थान नही दिया जा सकता। क्योंकि ध्वनिकार और मम्मट के ग्रन्थों में मौलिकता का साम्राज्य है, जबकि साहित्यदर्पण अधिकाश में सग्रह ग्रन्थों की श्रेणी में कहा जा सकता है। इसमें दृश्य-काव्य का विषय नाट्यशास्त्र और धनञ्जय के दशरूपक पर अवलम्बित है। इसीप्रकार रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य का विषय अधिकांश में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश से लिया गया है और अलङ्कार प्रकरण विशेषतया काव्यप्रकाश और रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व से। रुय्यक का तो इसने पद पद पर दासवत् अनुसरण किया है—अलङ्कारों की संख्या एवं उनका पूर्वापर क्रम भी प्रायः रुय्यक के अनुसार है। उदाहरणों के सकलन में भी प्राचीन ग्रन्थों का पर्याप्त उपयोग है। शब्दालङ्कारों मे विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और भाषासम यह ३ नवीन लिखे हैं, पर यह अलङ्कार महत्व-सूचक नहीं है। इसीप्रकार अर्थालङ्कारों में निश्चय और अनुकूल यह दो नवीन लिखे हैं किन्तु यह भी वस्तुतः नवीन नही— नवीनता का आभास मात्र है, क्योंकि दण्डी ने जिसे तत्वाख्यानोपमा और जयदेव ने भ्रान्तापन्हुति कहा है, उसे इसने निश्चय के नाम से लिखा है, और अनुकूल में भी प्राचीनों के विषम के दूसरे भेद से अधिकांश में विशेषता नहीं है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के प्रारम्भ में ही काव्यप्रकाश की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक शब्द में दोषारोपण करके और ध्वनिकार की—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ' ॥

—ध्वन्या० १।२

इस कारिका में इसके प्रथम की—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इत्यादि कारिका के साथ विरोध बतला कर मम्मट और ध्वनिकार जैसे सुप्रसिद्ध और सम्मान्य आचार्यों को सर्वथा अज्ञ बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। किन्तु काव्य-मार्मिकों की दृष्टि में इस आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं है। उपर्युक्त ध्वनि-कारिकाओं का रहस्य अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने लोचन टीका में स्पष्ट समझा दिया है, उससे अभिज्ञ होकर भी विश्वनाथ का सभी आलङ्कारिक आचार्यों के शिरोधार्य ध्वनिकार पर आलोचना करना केवल अपनी विद्वत्ता का ढोंग मात्र है*। यदि इन कारिकाओं में पूर्वापर विरोध का आभास मात्र भी होता तो ध्वनिकार का प्रबल प्रतिपक्षी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस दोष का उद्घाटन करने में क्यों चूक सकता था, किन्तु विपक्षी होने पर भी उसने ध्वनिकारों के विषय में सन्मान प्रदर्शित किया है—'महतां संस्तवएव गौरवाय' इत्यादि। फिर मम्मटाचार्य और ध्वनिकार क्या ऐसे मूर्ख थे, जो ग्रन्थारम्भ में ही ऐसी दूषित कारिकाएँ लिख डालते। आश्चर्य तो यह है कि विश्वनाथ स्वय इन दोनों का

---

* इस विषय पर द्वितीय भाग में 'काव्यपरिभाषा' शीर्षक में प्रसङ्गानुसार विस्तृत विवेचन किया जायगा।

अत्यन्त ऋणी होना—'इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यातेषु कटाक्ष-निक्षेपणेन' इन वाक्यों से स्वीकार करता है। अस्तु,

विश्वनाथ का परिचय और समय

विश्वनाथ, महाकवि चन्द्रशेखर का पुत्र था। इसने स्वय लिखा है—'श्री चंद्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु श्रीविश्वनाथकविराजकृत प्रबन्धम्'। (साहित्यदर्पण १०।१००), और यह श्रीनारायण का प्रपौत्र था—तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामह··· श्रीनारायणपादै-रुक्तम्' (साहित्यदर्पण ३।२,३), किन्तु काव्यप्रकाश की भूमिका में श्री वामनाचार्य ने इसकी काव्यप्रकाशदर्पण टीका के दिये हुए—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराज श्री-नरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगितयन्तः सकलसहृदयगोष्ठी गरिष्ठकविपण्डितास्मत्पितामहश्रीनारायणदासपादाः'।

इस उद्धरण में श्री नारायणदास को विश्वनाथ अपना पितामह बताता है। और इसके द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि राजा नरसिंह की सभा में श्री नारायण का बड़ा सन्मान था। विश्वनाथ ने अपने को और अपने पिता को सन्धिविग्रहक (राजमन्त्री) बताया है अतएव यह पिता पुत्र दोनों कलिंग राजाओं के मंत्री रहे हैं। विश्वनाथ संभवतः उत्कल (उड़ीसा) का निवासी था—काव्यप्रकाशदर्पण में इसने 'चिंकु' शब्द का पर्याय उत्कल भाषा में बताया है।

विश्वनाथ ने अपने किसी ग्रन्थ में समय का उल्लेख नहीं किया

है। अतः इसके ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों के उद्धृत वाक्य ही इसकी पूर्व सीमा के लिये आधार हैं। विश्वनाथ ने—

(१) रुय्यक द्वारा नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प के लक्षण लिखे हैं वे, रुय्यक के सूत्रों का रूपान्तर हैं। और—'नमयन्तु शिरांसि धनूषि' इत्यादि विकल्प का उदाहरण भी रुय्यक का ही लिया है। रुय्यक के अन्य अवतरण भी साहित्यदर्पण में अक्षरशः हैं*। और—'रजिता नु विविधास्तरुशैला''''' ' पद्य को अलङ्कारसर्वस्व (पृ० ४४) में सन्देहालङ्कार के उदाहरण में दिया है। किन्तु विश्वनाथ इसको उत्प्रेक्षा का उदाहरण बतला कर रुय्यक की आलोचना भी करता है। इसीप्रकार—'दासेकृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां''''' पद्य अलङ्कारसर्वस्व में परिणाम के उदाहरण में दिया गया है, इस पर भी विश्वनाथ ने—'दासेकृतागसि इत्यादौ रूपकमेव नतु परिणामः' इसप्रकार आलोचना की है।

(२) श्रीहर्ष के नैषधचरित के—'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारै''''''' (नैष० ३।११६) पद्य को अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में और —'हनूमदाद्यै शसा मयापुनर''''''' (नैष० ९।१२३) पद्य को व्यतिरेक के उदाहरण में साहित्यदर्पण में लिखा गया है।

(३) चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव के प्रसन्नराघव के—कदली

---

* देखो साहित्यदर्पण और अलङ्कारसर्वस्व में पुनरुक्तवदाभास और उल्लेख प्रकरण और उपमेयोपमा तथा भ्रांतिमान् की परिभाषा।

कदली करभः करभः' इत्यादि पद्य साहित्यदर्पण में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत है।

साहित्यदर्पण (४।१४) के—'अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्नच-विग्रहः।' इस पद्य में अल्लाउदीन का भी उल्लेख है। अल्लाउदीन खिलजी की मृत्यु १३१६ ई० में हुई थी। इसके द्वारा स्पष्ट है कि रुय्यक (११५० ई०), नैषधकार श्री हर्ष (१२ वीं शताब्दी) जयदेव (लगभग १२ वीं या १३ वीं शताब्दी) और अल्लाउदीन (१३१६ ई०) का विश्वनाथ परिवर्ती है।

और विश्वनाथ की उत्तर सीमा के लिये यह आधार है—

(१) गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रदीप' में विश्वनाथ द्वारा की गई काव्यप्रकाश की काव्य-परिभाषा की प्रत्यालोचना की है। प्रदीप का समय सन् १६०० ई० है।

(२) कुमारस्वामिन् ने रत्नापण (पृ० २४५,२४८) में साहित्यदर्पण का नामोल्लेख किया है। कुमारस्वामिन् का समय १५ वीं शताब्दी है। अतः विश्वनाथ १५ वीं शताब्दी से प्राचीन सिद्ध होता है। इसके सिवा मि० स्टीन के जम्बू की हस्तलिखित पुस्तकों के कैटलौग में साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है, जिस पर विक्रमाब्द १४४० (१३८४ ई०) है। उत्कल के ग्रन्थकार के ग्रन्थ की जम्बू में प्रसिद्धि होने में तथा प्रति-लिपि की जाने में अवश्य ही कम से कम अर्द्ध शताब्दी का समय अपेक्षित है। अतएव विश्वनाथ का समय सभवत· १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। क्योंकि इसने १३ वीं शताब्दी के लेखक जयदेव का

पद्य लिया है और १३८४ ई० की साहित्यदर्पण की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

साहित्यदर्पण पर श्री रामचरण तर्कवागीश की टीका सन् १७०० ई० में लिखी हुई मुद्रित है। और भी तीन टीकाएं हस्तलिखित प्रतियों में मिलती हैं—(१) अनन्तदास की (१६२५ ई०), (२) मथुरा-नाथ शुक्ल की और (३) गोपीनाथ की प्रभा। इनके सिवा एक टीका पं० शिवदत्त कविरत्न की श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में अभी मुद्रित हुई है और एक हिन्दी टीका भी विद्यावाचस्पति श्री शालिग्राम शास्त्रीजी की नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित हुई है, वह भी उल्लेखनीय है।

श्री रूपगोस्वामीजी का उज्वलनीलमणि

उज्वलनीलमणि रस विषयक ग्रन्थ है। इसमें शृङ्गाररस का अत्यन्त विशदतया वर्णन है। और इसमें एक यह उल्लेखनीय विशेषता है कि उदाहरणों में भगवान् श्री राधाकृष्ण की लीलाओं का ही समावेश किया गया है। श्री रूपगोस्वामीजी ने एक नाटक चन्द्रिका नाट्य-विषयक ग्रन्थ भी नाट्यशास्त्र और रसार्णवसुधाकर के मतानुसार लिखा है, जिसमें ८ प्रकरण है। इन्होंने साहित्यदर्पण में निरूपित विषय भरत-नाट्यशास्त्र के मतानुकूल न होने के कारण हेय बतलाया है। श्री रूपगोस्वामीजी, श्री कुमार के पुत्र और श्री मुकुन्दजी के पौत्र थे। यह महाप्रभु श्री चैतन्यदेव के समकालीन

प्रसिद्ध हैं। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा १६ वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध है।

गोस्वामी कर्णपूर और उसका अलङ्कारकौस्तुभ

अलङ्कारकौस्तुभ में १० किरण हैं उनमें क्रमशः काव्यलक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य, रस, भाव, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार रीति और दोषों का निरूपण है। अलङ्कारकौस्तुभ में प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण किया गया है। उदाहरणों में भगवान् श्रीकृष्ण के स्तुत्यात्मक पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर एक टीका ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं किरण नाम की लिखी है, दूसरी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी और तीसरी श्री वृन्दावनचन्द्र सेन तर्कालङ्कार की दीधितिप्रकाशिका है।

गोस्वामी कर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ के अतिरिक्त अन्य भी कई ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें आनन्दवृन्दावनचम्पू ग्रन्थ बड़ी विद्वत्ता पूर्ण लिखा है। इस चम्पू में महाकवि बाण की कादम्बरी के अनुकरण पर श्लेषात्मक विरोधाभास की रचना का प्राचुर्य है। कर्णपूर ने अपने चैतन्यचन्द्रोदय नाटक का रचनाकाल सन् १५७२ ई० का और श्री गौराङ्गगणोद्देश दीपिका का रचनाकाल सन् १५७६ ई० का लिखा है। और चैतन्यचन्द्रोदय की भूमिका में कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२४ ई० लिखा है अतएव कर्णपूर का समय १५२४ से सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण तक का माना जा सकता है।

केशवमिश्र और उसका अलङ्कारशेखर

श्री शौद्धोदनि की कारिकाओं पर—जिनको सूत्र कहा गया है, केशवमिश्र ने वृत्ति लिख कर ग्रन्थ का नाम अलङ्कारशेखर रक्खा है। केशव ने प्रथम कारिका की उत्थानिका में कहा है—

'अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमकाव्यस्वरूपमाह' (पृ० २)।

शौद्धोदनि सुप्रसिद्ध श्री बुद्धदेव का नाम है। पर यह कारिकाएं १२ वीं शताब्दी के बाद की हैं जैसा कि स्पष्ट किया जायगा। संभव है किसी बौद्धाचार्य ने शौद्धोदनि के नाम से कोई ग्रन्थ प्रणयन किया हो, उसी की यह कारिकाएं हों।

यह ग्रन्थ काव्यमाला सख्या ५० में मुद्रित है। इसमें आठ रत्न और २२ मरीचि हैं। इसमें काव्य की परिभाषा, काव्य-रीति, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, पद-वाक्य-अर्थ दोष, शब्दार्थ-गुण, ८ शब्दालङ्कार, १४ अर्थालङ्कार और नवरस नायिका भेद आदि काव्य के प्रायः सभी विषय संक्षिप्ततया निरूपित हैं। इसमें काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण और काव्यप्रकाश आदि से पर्याप्त सामग्री ली गई हैं अतएव यह सग्रह ग्रन्थ है। इसमें यद्यपि प्रचलित साहित्यिक ग्रन्थों से कुछ विशेषता दृष्टिगत होती है, किंतु वह मौलिक नहीं, जैसे—उक्ति के लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति भेद एवं पदमुद्रा, वाक्यमुद्रा, वचनमुद्रा आदि

विषय सरस्वतीकण्ठाभरण से अक्षरशः लिया गया है। इसीप्रकार कवि-समय, राजा, देवी, देश, ग्राम, नदी वर्णन के प्रकार, श्वेत, नील, पीत वर्णों की वर्णनीय वस्तु, इत्यादि बहुत से प्रकरण राजशेखर की काव्यमीमासा से लिये गये हैं। अन्य भी प्रायः सभी विषय दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत हैं।

जिन कारिकाओं को केशवमिश्र ने शौद्धोदनि की बतलाई हैं, उन्ही में—

'दोषं व्यक्तिविवेकेषु कविलोकविलोचने ।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तं महिमा महिमादृतः' ॥ (पृ० ८०)

इस कारिका में महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक और राजशेखर की काव्य-मीमासा का स्पष्ट नामोल्लेख है। अतः यह कारिकाए श्री शौद्धोदनि (श्री बुद्धदेव) की किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती हैं।

केशव मिश्र ने जयदेव (अ० शे० पृ० १७) श्री गोवर्धनाचार्य (पृ० १७,२९), भोज (पृ० ७), राजशेखर (पृ० ६७) का नामोल्लेख किया है। और अलङ्कारसर्वस्व का भी (पृ० ९,३८) उल्लेख है किन्तु वह रुय्यक के ग्रन्थ का है, या केशव के स्वय-प्रणीत किसी इसी नाम के ग्रन्थ का ? यह सदिग्ध है। केशव मिश्र ने अन्य भी ७ ग्रन्थ अपने लिखे बताये हैं। अलङ्कारशेखर को उसने काविल (सभवत. अफगानस्तान) के विध्वशक दिल्ली के माणिक्य-चन्द्र राजा के लिये प्रणीत किया है। मि० कनिंगहम माणिक्यचन्द्र को

कांगरे का राजा बतलाता है* जिसका समय १५६३ ई० है। अतः केशवमिश्र का समय संभवतः १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

—:※:—

शोभाकर और उसका अलङ्काररत्नाकर

शोभाकर ने अलङ्काररत्नाकर ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। और न इसकी हस्तलिखित लिपि ही हमारे सम्मुख है। अन्य ग्रन्थों में अलङ्काररत्नाकर के उद्धरणों द्वारा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में ३६† अलङ्कार ऐसे हैं जो लगभग ईसा की चोदहवी शताब्दी तक के ग्रन्थों में निरूपण नही किये गये हैं। किन्तु इन अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण जो शोभाकर ने लिखे हैं उन पर ध्यान देकर विचार करने पर इन अलङ्कारों में बहुत से अलङ्कार ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के उदाहरणों में गतार्थ हो जाते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार का अभाव होने के कारण अलङ्कारों की गणना में नहीं गिने जा सकते। यही कारण है कि इसके नवाविष्कृत अलङ्कारों में केवल 'असम' और 'उदाहरण' यह दो अलङ्कार ही ऐसे हैं, जिनको पण्डितराज ने रसगङ्गा-

---

* देखिये, Arch. Survey of India Vol 5 p. 160

† इन अलङ्कारों के नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जांयगे।

धर में लिखे हैं। शेष ३४ को इसके परवर्ती किसी भी आचार्य ने स्वीकार नही किया है।

शोभाकर का समय अनिश्चित है। अप्पय्य दीक्षित ने वृत्तिवार्तिक में (पृ० २०) और पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में (पृ० २११, २८१ आदि) अलङ्काररत्नाकर का उल्लेख किया है। अतएव शोभाकर का समय अप्पय्य दीक्षित (लगभग ईसा की १६ वीं शताब्दी) के पूर्व प्रतीत होता है।

यशस्क का अलङ्कारोदाहरण

अलङ्कारोदाहरण नाम का एक ग्रन्थ यशस्क द्वारा भी प्रणीत किया गया है। यह ग्रन्थ भी मुद्रित नहीं हुआ है। इसका उल्लेख कविराजा मुरारिदान के यशवन्तयशोभूषण एवं जसवंतजसोभूषण में मिलता है। जसवतजशोभूषण की छठी अन्तर्भावाकृति— में दिये हुए अलङ्कारों में यशस्क के ८ अलङ्कार नवीन प्रतीत होते हैं जिनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिखे जायगे। किन्तु इन ८ में एक 'प्रतिषेध' ही कुवलयानन्द में लिखा गया है। शेष अलङ्कार महत्वपूर्ण न होने के कारण अन्य किसी ग्रन्थ मे स्वीकृत नहीं किये गये हैं। स्वतत्र अलङ्कार वही माना जा सकता है जिसमे पूर्व निरूपित अलङ्कारों से विलक्षण चमत्कार हो। यदि

पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण से कुछ ही विलक्षणता हो तो ऐसी अवस्था में वह उसी पूर्व निरूपित अलङ्कार का उपभेद माना जा सकता है और यदि पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण मे समन्वय हो—केवल उक्ति मात्र की विलक्षणता ही हो तो वह उसी पूर्व निरूपित अलङ्कार का उदाहरणान्तर मात्र माना जा सकता है, न कि स्वतन्त्र ।

यशस्क का समय अज्ञात है । यशस्क और उसके इस ग्रन्थ का नामोल्लेख या उद्धरण केवल 'जसवंतजशोभूषण' के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता है ।

अप्पय्य दीक्षित और उसके कुवलयानन्द आदिक ग्रन्थ

श्री अप्पय्य दीक्षित के अलङ्कार शास्त्र पर तीन ग्रन्थ—कुवलयानन्द, चित्रमीमासा और वृत्तिवार्तिक प्रसिद्ध और मुद्रित हैं ।

कुवलयानन्द में पूर्वोल्लिखित जयदेव के चन्द्रालोक के पञ्चम मयूख के अर्थालङ्कारों की कारिकाओं पर अप्पय्य ने उदाहरण सहित वृत्ति लिखी है । और वहुत सी कारिकाएँ दीक्षितजी ने नवीन रचना करके कुवलयानन्द में वढाई भी हैं, जो अलङ्कार चंद्रालोक से अधिक कुवलयानन्द में लिखे गये हैं उन अलङ्कारों की कारिकाओं की रचना-शैली उसी प्रकार की है जिसप्रकार चन्द्रालोक में अनुष्टुप छन्द की प्रत्येक

कारिका के पूर्वार्द्ध में अलङ्कार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण है। स्वय दीक्षितजी ने कुवलयानन्द के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है—

'येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः,
प्रायस्तएव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते'।

—कुवलयानन्द ५

कुवलयानन्द में १०२ अर्थालङ्कार, ७ रसवदादि एवं ९ प्रत्यक्षादि प्रमाणालङ्कार इस प्रकार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किये गये हैं।

अर्थालङ्कारों मे लगभग १७† अलङ्कार ऐसे हैं, जो चन्द्रालोक मे निरूपण नहीं किये गये हैं।

इन १७ अलङ्कारों में १ कारकदीपक ऐसा है जिसे काव्यप्रकाश में दीपक अलङ्कार के अतर्गत लिखा गया है और १ प्रतिषेध अलङ्कार यशस्क कृत अलङ्कारोदाहरण में भी है। शेष १५ अलङ्कारो के आविष्कर्ता अप्पय्य दीक्षित है या उनके पूर्ववर्ती कोई अज्ञात आचार्य हैं इसके निर्णय के लिये कोई साधन उपलब्ध नही है।

अलङ्कार विषय के प्रारम्भिक अभ्यास के लिये कुवलयानन्द उपयोगी होने के कारण अधिक प्रचलित है। और हिन्दी भाषा के भाषाभूषण, पद्माभरण आदि बहुत से ग्रन्थ कुवलयानन्द के आधार पर

† इनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जायगे।

ही लिखे गये हैं। कुवलयानन्द पर बहुत सी टीकाएँ हैं और इसके अनेक संस्करण कलकत्ता, बम्बई एवं बनारस में निकल चुके हैं।

चित्रमीमांसा अपूर्ण ग्रन्थ—अतिशयोक्ति अलङ्कार तक काव्य-माला सख्या ३८ में मुद्रित है। यह भी केवल अलङ्कार विषयक ग्रन्थ है। इसमें की गई आलोचनात्मक विवेचना द्वारा ग्रन्थकार का अधिकृत विषय में प्रशंसनीय अधिकार स्पष्ट विदित होता है। इसके अंत के—'अप्यर्द्धचित्रमीमांसा' इत्यादि पद्य से विदित होता है कि ग्रन्थकार इसे सपूर्ण नहीं लिख सका। यद्यपि उसकी इच्छा अधिक लिखने की अवश्य थी, जैसाकि उसके—'अधिकं तु निदर्शनालङ्कार प्रकरणे चिन्तयिष्यति' (पृ० १०१) इस वाक्य द्वारा प्रतीत होता है।

तीसरा ग्रन्थ वृत्तिवार्तिक भी अपूर्ण ही काव्यमाला संख्या १६ में मुद्रित है। यह छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें अभिधा, लक्षणा तक ही निरूपण है।

अप्पय्य दीक्षित का परिचय और समय

अप्पय्य दीक्षित एक उल्लेखनीय दाक्षिणात्य विद्वान् थे। यह शैव मत के स्तभ माने जाते थे। इनका नाम अप्प, अप्पा दीक्षित भी प्रसिद्ध था। और यह न्यायचिन्तामणि ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य दीक्षित के (जो वक्षःस्थलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे) पुत्र श्री रगराजाध्वरी के ज्येष्ठ पुत्र थे। रङ्गराजाध्वरी के विषय में नलचरित नाटक में बहुत कुछ लिखा गया है। दीक्षितजी ने लगभग १००

ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डितराज जगन्नाथ इनके प्रबल प्रतिपक्षी थे। पडितराज ने दीक्षित को रुय्यक और उसके टीकाकार जयरथ का अन्धानुसरण करनेवाला बताया है और रसगङ्गाधर में इनकी बड़ी क्रूर आलोचना की है। पंडितराज ने चित्रमीमांसा-खण्डन नामक ग्रन्थ भी लिखा है जो चित्रमीमांसा के साथ ही काव्यमाला में मुद्रित है। पं० राज की आलोचना का अप्पय्य के भाई अच्चा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने पूर्वज की कीर्ति-रक्षार्थ उसी प्रकार तीव्र खण्डन भी किया है।

अप्पय्य ने १४ वीं शताब्दी के एकावली के लेखक विद्याधर का (चित्रमीमांसा पृ० ५८) और प्रतापरुद्रीय के लेखक विद्यानाथ का (चित्रमीमासा पृ० ५८) नामोल्लेख किया है। और कुवलयानन्द के—

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः'॥

इस अन्तिम पद्य में जिस वेंकटपति का नामोल्लेख किया है, वह विजयम नगर का प्रथम राजा वेंकट है, जिसके शासन-पत्रों में एक की तिथि शाके १५२३ (१६०१,२ ई०) है×। और अप्पय्य ने शिवादित्य मणिदीपक ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में चिनवीर के पुत्र तथा लिगमनायक के पिता चिनवौचा को अपना आश्रयदाता बताया है। दक्षिण आरकेट जिले के वैलों के अधिपति के शिलालेख शाके १४७१-१४८८ (१५४९-१५६६ ई०) के मिलते हैं। अतः इसके द्वारा अप्पय्य

× देखिये, व्हूलर एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द ४ पृ० २६९।

दीक्षित का ईसा की १६ वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। अद्वैतसिद्धि, श्रीमद्भागवत की टीका और भक्ति रसायन आदि ग्रन्थों के प्रणेता श्री मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अप्पय्य की वेदान्तकल्पतरु पर परिमल नामक टीका का उल्लेख किया है[१]। श्री मधुसूदन सरस्वती प्रणीत सिद्धान्तविन्दु ग्रन्थ का लिपिकाल शकाब्द १५३९ (१६१७ ई०) है, जोकि इण्डिया औफिस की लायब्रेरी में वर्तमान है। उसकी रचना का काल इससे भी पूर्व होना संभव है। श्री मधुसूदन सरस्वती अप्पय्य दीक्षित के समकालीन माने जाते हैं[२]। इसके सिवा कमलाकर भट्ट ने—जिसका समय १७ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है, अप्पय्य का नामोल्लेख किया है। और अप्पय्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने अपने नीलकण्ठ चपू का समय गतकलि ४७३८ लिखा है—

'अष्टत्रिंशतउपस्कृतसप्तशताधिकचतुः सहस्रेषु
गतकलिवर्षेषु प्रथितः किल नीलकण्ठ विजयोयम्'।

इसके अनुसार नीलकण्ठ चंपू का समय १६३७ ई० होता है। और नीलकण्ठ के—'श्रीमानप्पयदीक्षितः स जयति श्रीकण्ठविद्यागुरुः' इस वाक्य द्वारा नीलकण्ठ के समय में (१६३७ ई० में) अप्पय्य का

१ 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकार कल्पतरुकार परिमलकारैरिति'-अद्वैतसिद्धि।

२ देखिये, विद्यापीठ पत्रिका सं० १९८६ पृ० ६०।

विद्यमान होना स्पष्ट है। इसके सिवा एक विश्वस्त प्रमाण और भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा अप्पय्य दीक्षित का सन् १६५७ ई० तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। सन् १६५७ ई० में काशी के मुक्तिमण्डप मे एक सभा हुई थी जिसमें यह निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवर्षि (देवरुखे) ब्राह्मण पक्तिपावन हैं, इस निर्णय पत्र पर अप्पय्य दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं। यह निर्णयपत्र श्रीपिपुट करने 'चितलेभट्ट प्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है। अतएव अप्पय्य का समय लगभग १६५२ तक माना जा सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली
और
उसका रसगङ्गाधर

'कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वासः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः' ॥

रसगङ्गाधर महत्वपूर्ण अपूर्व ग्रन्थ है। मौलिकता और विषय-विवेचन में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के वाद इसी का स्थान है। यह काव्यमाला सख्या १२ में नागेशभट्ट की टिप्पणी सहित अपूर्ण मुद्रित है। गङ्गाधर श्री शकर का एक नाम है, इस ग्रन्थ के रसगङ्गाधर नाम द्वारा प्रतीत होता है कि श्री शकर के पञ्चानन के अनुसार सभवत.

ग्रन्थकार की इच्छा इसे पांच आननों में पूर्ण करने की थी, किन्तु प्रकाशित ग्रन्थ में द्वितीय आनन भी अपूर्ण है।

रसगङ्गाधर के प्रथम आनन में काव्य का लक्षण—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' यह बता कर प्राचीनों में ध्वनिकार कुन्तक एवं काव्यप्रकाश और नवीनों में विश्वनाथ द्वारा कथित काव्य-लक्षण की आलोचना की गई है। फिर काव्य को उत्तमोत्तम (ध्वनि), उत्तम (गुणीभूत व्यंग्य), मध्यम (अर्थालंकार) और अधम (शब्दालङ्कार) इन चार भेदों मे विभक्त किया गया है—जब कि मम्मट आदि आचार्यों ने तीन भेदों में विभक्त किया है। उसके बाद रस प्रकरण, शब्द और अर्थ के गुण, वैदर्भी रीति, भावध्वनि और रसाभास आदि निरूपित हैं। और द्वितीय आनन में प्रथम संक्षिप्त ध्वनि-भेद फिर अभिधा, लक्षणा का विषय, तत्पश्चात् उपमा से उत्तर तक ७० अर्थालङ्कार निरूपित हैं। ग्रन्थकार ने इन अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य कितने अर्थालङ्कारों एव शब्दालङ्कारों का तथा अन्य किन किन काव्य-विषयों का इसमें समा-वेश किया था अथवा समावेश करने की उसकी इच्छा थी यह किस प्रकार ज्ञात हो सकता है, जबकि ग्रन्थ अपूर्ण है और ग्रन्थ के आदि में विषय सूची के रूप ग्रन्थकार ने कुछ सकेत भी नहीं किया है।

रसगङ्गाधर में अलङ्कारों का पूर्वापर क्रम प्रायः रुय्यक के अल-ङ्कारसर्वस्व के अनुसार है, कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो काव्यप्रकाश एवं सर्वस्व में नहीं है, किन्तु चन्द्रालोक में हैं। 'असम' और 'उदा-हरण' यह दो अलङ्कार अलङ्काररत्नाकर के भी लिखे गये हैं। और तिरस्कार अलङ्कार संभवतः नवीन है।

इसमें लक्षण सूत्रों की शैली के अनुसार गद्य में है। पर इसे सूत्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूत्रों में अत्यन्त संक्षेप में कहा जाता है, और इसमें विस्तार के साथ लक्षणात्मक गद्य है। और उसपर मृदु एव ओजपूर्ण गद्य में विस्तृत वृत्ति है। उदाहरण सभी पण्डितराज ने स्वयं-प्रणीत दिये हैं। उदाहरणों के विषय में पण्डितराज ने ग्रन्थारम्भ में कहा है—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
कि सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण' ॥

—रसग० पृ० ३

यह गर्वोक्ति अवश्य है। पर पण्डितराज ने प्रसाद गुण-सम्पन्न धारा-प्रवाह शैली में प्रणीत अपने उदाहरणों द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करके दिखा दी है। इन्होंने अलङ्कारों का प्रतिपादन अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की आलोचनात्मक विवेचना पूर्वक जिस मार्मिकता से किया है, वह वस्तुतः उल्लेखनीय है। अप्पय्य दीक्षित के तो यह कट्टर प्रतिपक्षी थे, उसके कुवलयानन्द और चित्रमीमासा का प्राय· प्रत्येक अलङ्कार प्रकरण मे खण्डन किया है। किन्तु आचार्य मम्मट (पृ० ५,२२९, आदि), रुय्यक (पृ० २०८,२५१,३०१ आदि), विमर्शनीकार जयरथ (पृ० २०१,२५९,३८० आदि), विद्यानाथ (पृ० १६२) रत्नाकर (पृ० २११) और विश्वनाथ

(पृ० ७) आदि सभी प्रसिद्धाचार्यों की आलोचना की है। यहांतक कि ध्वनिकार, जो इनके अत्यन्त श्रद्धेय थे, अतएव जिनके मत इन्होंने अत्यन्त सन्मान के साथ अनेक स्थलों पर उद्धृत किये हैं, उनकी भी आलोचना करने में कुछ सकोच नहीं किया है रूपक-ध्वनि के प्रकरण में–

'आनन्दवर्धनाचार्यास्तु········ प्राप्तश्रीरेष··· ·· इत्याहुः तच्चिन्त्यम्' (रसगं० पृ० २४७)

इन वाक्यों द्वारा आलोचना की है। इसके द्वारा यह स्पष्ट है कि पण्डितराज एक स्वतंत्र विचार के निःशङ्क आलोचक और उत्कट विद्वान् थे।

हमारे पण्डितराज को उन प्राचीन सुप्रसिद्ध महाकवियों की, जिन्होंने अपने विषय में गर्वोक्तियां की हैं, परम्परा का अनुयायी अथवा पोषक कहना अवश्य ही पण्डितराज का अपमान-जनक है क्योंकि यह इस विषय में सबसे आगे बढ़े हुए हैं, यों तो इनकी सभी गर्वोक्तियां विचित्र है, किंतु भामिनीविलास के प्रारम्भ के—

'दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डा करटिनः'
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः' ॥

इस पद्य में पराकाष्ठा कर दी है। इसमें पंडितराज अपने समकालीन सभी विद्वानों को अपने सम-कक्ष न मानकर—उनको करुणास्पद कह-

कर और अपने को दिग्विजयी सूचन करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, किंतु अपने समकक्ष प्रतिद्वन्द्वी न मिलने का खेद भी सूचन करते हैं कि हम ऐसी परिस्थिति में किस पर अपना प्रचण्ड पाण्डित्य प्रकट करके अपनी अभिलाषा पूर्ण करें, अस्तु। यह तो निर्विवाद है कि पण्डितराज पश्चात् के लेखक होने पर भी उल्लेखनीय आलङ्कारिक और महाकवि थे।

पण्डितराज का परिचय और समय

यह तैलङ्ग ब्राह्मण थे—'तैलङ्गकुलावतंशेनपण्डितराजजगन्नाथेन' (आसफविलास)। इनका द्वितीय नाम वेल्लनाडु था और इनको त्रिशूली भी कहते थे। यह पेरुभट्ट (अथवा पेरम भट्ट) और लक्ष्मी के पुत्र थे। इनके पिता भी प्रशंसनीय विद्वान् थे, जैसा कि—'श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षु……' (रसग० पृ० २) पद्य में उल्लेख है। इनके विषय में बहुत सी किम्वदन्तिया प्रचलित हैं, जिनमें एक यह भी है, कि इनका एक यवन-रमणी के साथ सपर्क था, इस सम्बन्ध के कुछ पद्य भी प्रचलित हैं, जिनको इन्हीं के प्रणीत कहे जाते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती भागीरथी के अनन्य भक्त थे, जैसा कि इनके वर्णनों द्वारा ज्ञात होता है।

पण्डितराज दिल्ली के यवन सम्राट् शाहजहा और उसके पुत्र दारा शिकोह के परम प्रेमपात्र थे। पण्डितराज ने स्वय भामिनीविलास के अन्तिम पद्य में कहा है—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीत नवीन

वयः······'। इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा में जगदाभरण ग्रन्थ लिखा है और शाहजहां के कृपापात्र खानखाना आसफ के विषय में आसफविलास भी। इनको पण्डितराज की उपाधि भी शाहजहां द्वारा ही दी गई थी—

'सार्वभौमश्रीशाहजहांप्रसादाधिगतपण्डितराजपदवीविराजितेन'।
—आसफवि० काव्य माला द्वितीय गुच्छक पृ० ५५

इन्होंने रसगङ्गाधर और चित्रमीमांसाखण्डन एवं उपर्युक्त ग्रन्थों के सिवा प्रसिद्ध पीयूषलहरी (गङ्गालहरी), अमृतलहरी, सुधालहरी, लक्ष्मीलहरी, मनोरमाकुचमर्दन आदि अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं, इनमें बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला में मुद्रित हैं।

पण्डितराज शाहजहां के समकालीन हैं। शाहजहां के राज्याभिषेक का समय १६२८ ई० है। और औरंगजेब द्वारा सन् १६६६ ई० में शाहजहां बंदी किया गया था। इसी आधार पर इनको कुछ विद्वानों ने अप्पय्य दीक्षित के परवर्ती माना है। किन्तु अप्पय्य के सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थ के कुम्भकोण संस्करण की भूमिका में नागेश भट्ट का काव्यप्रकाश की व्याख्या में लिखा हुआ यह पद्य उद्धृत किया है—

'दृप्यद् द्राविड़दुर्ग्रहग्रहवशान् म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा,
यन्म्लेच्छेतिवचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।

तत्सत्याभितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यसृदूनात्कुचं,
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्याद्यान्स्थितान्' ॥

इसमें भट्टोजि दीक्षित द्वारा पण्डितराज को म्लेच्छ कह कर अपमानित करने का और भट्टोजि एवं अप्पय्य दोनों का समकालीन होने का उल्लेख है। और उसी भूमिका में दूसरा बाल कवि का पद्य—जिस बाल कवि को अप्पय्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने नलचरित में अप्पय्य के समकालीन बताया है, उद्धृत किया है—

'यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,
भट्टोजिप्रमुखाः सपण्डितजगन्नाथोपि निस्तारितः।
पूर्वार्द्धे चरमे द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजि—
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजन्ज्योतिः सतां पश्यताम्' ॥

इसमें अप्पय्य दीक्षित द्वारा ७२ वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में भट्टोजि दीक्षित आदि विद्वानो का विजित होना और पण्डितराज का (सभवतः यवनी के सम्पर्क से जाति पतित किये गये का) उद्धार किया जाना और ७२ वर्ष में अप्पय्य का देहावसान होना कहा गया है। अतएव इन पद्यों द्वारा अप्पय्य के समय में पण्डितराज का होना सिद्ध होता है। सभव है पण्डितराज की युवावस्था मे वृद्ध अप्पय्य दीक्षित कुछ काल विद्यमान रहे हों। इसकी पुष्टि प्रथम उल्लिखित अप्पय्य के समय द्वारा और इस बात से भी होती है कि पण्डितराज ने अप्पय्य के ग्रन्थों का जो खण्डन किया है, वह सभ्योचित भाषा में नहीं, किन्तु

अत्यन्त कठोर और द्वेष-पूर्ण है। ऐसी आलोचना मृत-व्यक्ति के विषय में नहीं, किंतु संभवतः समकालीन व्यक्ति के—जिसके साथ परस्पर विशेष मार्मिक द्वेष हो—विषय में ही किया जाना संभव है। इन घटनाओं पर लक्ष्य देने से पण्डितराज का समय संभवतः लगभग १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से तृतीय चरण तक है।

रसगङ्गाधर की मर्मप्रकाश टिप्पणी के लेखक नागोजी या नागेश भट्ट ने काव्यप्रकाश, प्रदीप, रसमञ्जरी और अप्पय्य पर भी टीकाएं लिखी हैं। नागोजी महाराष्ट्र ब्राह्मण और शिवभट्ट तथा सती के पुत्र थे। और काशी निवासी एवं शृङ्गवेरपुर (अलाहाबाद के समीप) के रामसिंह राजा के आश्रित थे। यह प्रसिद्ध वैय्याकरण विद्वान् थे। और सिद्धान्तकौमुदी के लेखक भट्टोजि दीक्षित के प्रपौत्र हरिदत्त के शिष्य थे। और भट्टोजि, शेषकृष्ण के शिष्य थे, जिनका पुत्र वीरेश्वर पण्डितराज का गुरु था अतः नागोजी, पण्डितराज के दो पीढ़ी बाद के हैं। नागोजी का समय संभवतः १७ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा १८ वीं का प्रथम पाद है। भानुदत्त की रसमञ्जरी पर जो नागेश की टीका है, उसकी हस्तलिखित प्रति पर (जो इण्डिया ओफिस में है।) सन् १७१२ ई० की तिथि है।

—
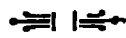
सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ ही इस विषय का अन्तिम लेखक है अतः उसकी अतिम सीमा १७ वीं शताब्दी में पण्डतराज के साथ ही समाप्त हो जाती है।

पण्डितराज के वाद संस्कृत साहित्योद्यान की मनोरञ्जकता को परिवर्द्धन करने वाला कोई भी विद्वान् मालाकार दृष्टिगत नहीं होता है। जो साहित्योद्यान विद्या-रसिक स्वातंत्र्य सौख्य प्राप्त भारतीय नृपतियों के मनोरञ्जक वासन्तिक काल में परिवर्द्धित और विकशित हुआ था, उसका ह्रास तो क्रमशः उन नृपतियों के स्वातंत्र्य-सौख्य के साथ-साथ यवन-साम्राज्य-काल में ही होने लगा था, फिर भारतवर्षीय नृपतिगणों के परम्परागत स्वातत्र्य गौरव का प्रभाकर ही जब पश्चमीय अरुणिमा में निमग्न होता होता विलासिता के आवरण में विलुप्तप्राय हो गया, तो ऐसी परिस्थिति में हमारे प्राच्य साहित्योद्यान पर दृक्पात होना सभव ही कहां था। खेद है कि साम्प्रतिक काल में हमारा संस्कृत साहित्य पाश्चात्य लेखकों द्वारा केवल मृतक भाषा के साहित्य की उपाधि प्राप्त हो रहा है। इस अवस्था में भी कुछ सन्तोष का विषय यही है कि इसे ऐतिहासिक सामग्री का महत्व प्राप्त है, अस्तु—

'स च काल प्रभावोयं न च कस्यापि दूषणः'।

—oo%o%oo—

कविराजा मुरारिदान और सुब्रह्मण्य शास्त्री का यशवन्तयशोभूषण

मरुधराधीश स्वर्गीय जसवन्तसिंह—जो विक्रमाब्द १९५० में विद्यमान थे—के राज्यकवि कविराजा मुरारिदान को और उनके

साहित्य-शिक्षक* सुब्रह्मण्य शास्त्री को भी सस्कृत साहित्य के इतिहास में यहां स्थान दिया जाना उचित और आवश्यक है। कविराजा ने आधुनिक काल में भी अलङ्कार शास्त्र पर श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री की सहायता से हिन्दी भाषा में जशवन्तजसोभूषण ग्रन्थ लिखा और उसका संस्कृत में उक्त शास्त्रीजी द्वारा अनुवाद करा कर यशवन्तयशोभूषण ग्रन्थ मारवाड़ स्टेट प्रेस (जोधपुर) में राज संस्करण के रूप में प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ का नामकरण विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण के आदर्श पर रक्खा गया है।

यशवन्तयशोभूषण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री की विद्वत्ता-सूचक अवश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के द्वारा शास्त्रीजी का साहित्य विषय पर उल्लेखनीय अधिकार का परिचय मिलता है। ग्रन्थ का आकार भी बृहत् है और विषय विवेचन भी विस्तार के साथ किया गया है। उदाहरणों में प्रायः जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिह का यशोगान किया गया है। इस ग्रन्थ में कविराजा मुरारिदान ने अपनी प्रसिद्धि और राज्य-सन्मान प्राप्त करने की लालसा से एक यह नवीन सिद्धान्त प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक अलङ्कार के नाम मे ही लक्षण हैं। कविराजा का कहना है कि इस रहस्य का ज्ञान श्री भरत मुनि से आदि लेकर अबतक किसी भी प्राचीन साहित्याचार्य को नहीं था,

---

* देखिये यशवन्तयशोभूषण पृ० ३७४ 'साहित्याम्बुधिलंघने ......' इत्यादि पद्य, और जसवन्तजशोभूषण पृ० ४८० साहित समुद्र कौ उरुघवो......इत्यादि कवित्त।

इसीलिये श्री भरत आदि ने अलङ्कारों के लक्षणों के लिये कारिकाए या सूत्र लिखे हैं। कविराजा ने अत्यन्त अभिमान के साथ यह भी कहा है कि इस नवीन रहस्य के आविष्कर्ता केवल हम ही हैं। किन्तु यह कविराजा की सर्वथा मिथ्या गर्वोक्ति है। अथवा यों कहना उचित होगा कि राज्य-सन्मान प्राप्त करने के लिये कविराजा की यह आपात रमणीय रहस्यपूर्ण राजनैतिक एक युक्ति थी। हां, बहुत से अलङ्कारो के नाम यौगिक अवश्य हैं और यह बात सभी सुप्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों को भलीभांति विदित भी थी। काव्यप्रकाश आदि में प्रायः अलङ्कारों के नामों का व्युत्पत्यर्थ दिखाया गया है किन्तु अलङ्कारों का यथार्थ स्वरूप केवल नामार्थ द्वारा कदापि स्पष्ट नहीं हो सकता। अल-ङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के प्रधान चमत्कार का केवल आंशिक सकेत मात्र सूचित होता है। इसीलिये अलङ्कारों के लक्षण कारिका या सूत्र में प्राचीनाचार्यों ने लिखे हैं। स्वय कविराजा भी केवल अलङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के लक्षण स्पष्ट करने मे कृत-कार्य नहीं हो सके हैं। अगत्या उनको भी नामार्थ के अतिरिक्त बहुत सी बातें ऊपर से कहनी ही पड़ी हैं। अतएव लक्षण-निर्माण के विषय में जो कविराजा ने सुप्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों की क्रूर आलोचनाएँ की हैं वह महत्वपूर्ण न होने के कारण साहित्य-मार्मिकों की दृष्टि मे सर्वथा अनादरणीय है। कविराजा की इन आलोचनाओं के ढोल मे कितनी पोल है यह विषय विस्तार के साथ स्वतन्त्र आलोच्य है।

इसका कुछ दिक्दर्शन इस लेखक ने अपने काव्यकल्पद्रुम[1] ग्रन्थ में और द्विवेदीअभिनन्दन[2] ग्रन्थ में कराया है। फिर भी हम यह अवश्य कहेंगे कि इस ग्रन्थ में प्राचीनाचार्यों की आलोचनाएँ करते हुए जो आपात रमणीय युक्तियां दी गई हैं, वे विद्वानों के मनोविनोद की यथेष्ट सामग्री हैं। अस्तु।

यह दोनों ग्रन्थ विक्रमाब्द १९५० में लिखे गये थे और महाराज जसवन्तसिंह ने इन ग्रन्थों की रचना के उपलक्ष में कविराजा को एक लक्ष का पारितोषिक दिया था जिसको मारवाड़ में 'लाखपसाव' कहते हैं। इसके अतिरिक्त कविराजा की उपाधि, पैरों में सुवर्ण पहनने का अधिकार और गमनागमन के समय अभ्युत्थान (ताजीम) एवं सुल्कृत हाथी, घोड़े, पालकी आदि से कविराजा को सन्मानित भी किया गया था।

१ देखिये काव्यकल्पद्रुम विक्रमाब्द १९८३ का द्वितीय संस्करण पृ० २२४-२३२ और विक्रमाब्द १९९३ के तृतीय संस्करण का द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी भूमिका पृ० 'ह'।

२ देखिये पृ० २६२-२६७।

निष्कर्ष ।

यहांतक किये गये साहित्यक ग्रन्थों के विषय विवरण और उनके प्रणेताओं के काल-विषयक ऐतिहासिक विवेचन द्वारा हम साहित्य के क्रम-विकास पर विचार करते हैं, तो प्रारम्भिक काल में यद्यपि श्री भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में हमको अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है, जैसा कि पहिले नाट्यशास्त्र-विषयक निर्णय में दिखाया गया है, किन्तु उन आचार्यों के न तो नाट्यशास्त्र में नामोल्लेख ही हैं और न उनके ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय ही साहित्य का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है। नाट्यशास्त्र के विषय-विवरण के अनुसार, उसमे शृंगारादि नवरसों के अतिरिक्त, केवल ४ अलङ्कार, १० दोष, १० गुण और वैदर्भी आदि रीतिओं का निरूपण है। तदनन्तर अग्निपुराण के समय अलङ्कारों की संख्या ४ के स्थान पर लगभग १५ तक वर्द्धित है, उसीप्रकार गुण, दोष, आदि के विवेचन में भी कुछ क्रम-विकास दृष्टिगत होता है। अतएव अग्निपुराण के समय तक क्रम-विकास की प्रथमावस्था सूचन होती है।

अग्निपुराण के वाद और भट्टि, भामह के प्रथम मध्यवर्ती दीर्घ काल मे इसका क्रम-विकास अवश्य ही स्वीकार किया जायगा। क्योंकि भामह के काव्यालङ्कार द्वारा स्पष्ट है कि भामह के प्रथम वहुत से साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, जिनमे कुछ लेखकों का भामह ने नामो-

ल्लेख भी किया है। किन्तु वह क्रम-विकास किस-किस समय में किस किस आचार्य द्वारा हुआ, यह जानने के लिये उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण हमारे सन्मुख कोई भी साधन नहीं है। अस्तु, अग्निपुराण के बाद उपलब्ध ग्रन्थों द्वारा छठी शताब्दी के लगभग भामह ही परिचित साहित्याचार्य हमारे सन्मुख आता है। और भामह के ग्रन्थ में अलङ्कार साहित्य का क्रम-विकास दृष्टिगत होता है और भामह के बाद वामन के समय तक—आठवीं शताब्दी तक, दण्डी, उद्भट और वामन द्वारा यद्यपि अलङ्कारों की सख्या में उल्लेखनीय अधिक वृद्धि नहीं हुई है, तथापि विषय-विवेचन की स्पष्टता द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश उपलब्ध होता है।

भामह के पश्चात् और चन्द्रालोक के प्रणेता जयदेव के प्रथम लगभग ६,७ शताब्दियों का समय साहित्य के क्रम-विकास का महत्व-पूर्ण काल है। साहित्य के विभिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्तकों का और साहित्य के महत्वपूर्ण विकास का यही काल है। इस काल को हम साहित्य का पूर्ण उन्नत काल कह सकते हैं, जैसा कि इस ग्रन्थ में साहित्य-ग्रन्थों के किये गये विवरण द्वारा स्पष्ट ज्ञात हो सकता है। साहित्य के विकास का स्थान वही सुप्रसिद्ध काश्मीर प्रदेश है, जो उस समय विद्वानों के उद्गम का स्थान था। और जिसने भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वनि-कार श्री आनन्दवर्धनाचार्य, कुन्तक, महिम, अभिनवगुप्त, मम्मट और रुय्यक आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त किया है। प्राचीन साहित्याचार्यों में एक दण्डी ही ऐसा है, जो सभवतः काश्मीर देशीय न होकर दाक्षिणात्य था। यद्यपि

धाराधीश भोज और जयदेव जैसे प्रसिद्ध साहित्याचार्य भी उसी काल में हुए हैं, वे भी काश्मीर देशीय नहीं थे, किन्तु जिस काश्मीर प्रदेश के रत्नों द्वारा साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ है, भोज आदिक उसके पोषक मात्र थे—किसी विशेष सिद्धान्त या सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं।

इस काल के प्रारम्भ में हमको भामह, उद्भट और रुद्रट मिलते हैं, जो प्रधानतया अलङ्कार सिद्धान्त के ही प्रतिपादक थे। इनके सिवा दण्डी और वामन यह दो ऐसे आचार्य मिलते हैं, जो अलङ्कारों को काव्यशोभाकारक स्वीकार करते हुए भी, गुण और रीति को काव्य में प्रधानता देते हैं। उसके बाद ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य जैसे महान् प्रतिभाशाली आचार्य भी इसी काल में हमको उपलब्ध होते हैं, जो नवीन और महत्वपूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। फिर कुन्तल और महिमभट्ट जैसे ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी भी इसी काल में दृष्टि-पथ होते हैं, यद्यपि इस कार्य में वे सफल न हो सके। महाराजा भोज भी इसी काल में हुए, जिन्होंने अग्निपुराण में जिस काव्यशैली का सूत्रपात है, उसका सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश जैसे महत्वपूर्ण एवं बृहत्काय ग्रन्थों में विशदतया निरूपण किया है। धनञ्जय और अभिनवगुप्तपादाचार्य भी इसी काल में हुए जिनमें पहिले ने नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम नाट्य-विषय का विस्तृत विवेचन किया है और दूसरे ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती व्याख्या लिख कर उसके जटिल विषय को बोध-गम्य बना दिया है और ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त पर जो

जटिलता के अन्धकार में परिवेष्टित था, लोचन का प्रकाश डाल कर स्पष्ट कर दिया है। इसी समय में आचार्य मम्मट ने काव्य की बिखरी हुई विभिन्न धाराओं को समन्वित करके यथोचित स्थान पर स्थापित की हैं। उसके बाद रुय्यक और उसके टीकाकार जयरथ जैसे विद्वानों द्वारा भामहादि की स्थापित अलङ्कार सम्प्रदाय में जो उनके बाद कुछ शिथिलिता सी आ गई थी उसे पुनः प्रभावान्वित की गई है। और जयदेव ने भी उसे परिवर्द्धित की है। और अलङ्कारों की सख्या में भी क्रमशः इसी काल में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भामह के समय में अलङ्कारों की संख्या लगभग ४० तक थी वह वामन के समय तक लगभग ५० के और रुय्यक के समय तक लगभग १०० तक हो गई थी और जयदेव ने उसमें और भी वृद्धि की है। इस काल में केवल अलङ्कारों की संख्या वृद्धि और उनका रूप ही परिष्कृत एव विकसित नहीं किया गया किन्तु अन्य सभी काव्य-विषय विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा शाणोत्तीर्ण किये जाकर परिष्कृत और चमत्कृत कर दिये गये हैं। अतएव ईसा की छठी शताब्दी से लगभग १२ वीं शताब्दी तक का समय साहित्य के विकास-क्रम का यथार्थ ही महत्वपूर्ण काल है।

तदनन्तर १२ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक साहित्य के क्रम-विकास का उत्तर अथवा अन्तिम काल है। इस काल में रस, ध्वनि और अलङ्कारों का विवेचन प्रायः काव्यप्रकाश और अलङ्कार-सर्वस्व के अनुसार होता रहा है। यद्यपि अलङ्कारों की सख्या में वृद्धि अवश्य देखी जाती है—१८ वीं शताब्दी तक के विभिन्न लेखकों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या लगभग १९० तक पहुच गई है

किन्तु इस परिवर्द्धित संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो प्राचीनाचार्यों द्वारा पूर्व निरूपित अलङ्कारों में गतार्थ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में साहित्य का कोई नवीन सिद्धान्त भी आविष्कृत नहीं हुआ है। और न इस समय के लेखकों में विश्वनाथ और पण्डित-राज के सिवा कोई उल्लेखनीय लेखक ही हुआ जिनमें पण्डितराज ही ऐसे अन्तिम लेखक हैं, जिनके रसगङ्गाधर में मौलिकता का परिचय मिलता है, और जो ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के पश्चात् उच्च श्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकता है। शेष अधिकांश ग्रन्थ उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं अथवा प्राचीन ग्रन्थों के व्याख्या रूप हैं।

इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों से उद्धृत पद्यों की वर्णक्रमानुसार सूची

वर्णक्रमानुसार सूची

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

इस ग्रन्थ के लिखने में सहायक और उपयोग में लाये गये ग्रन्थों की नामावली

१ अग्निपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण पूना

२ अभिधावृत्तिमातृका (मुकुल भट्ट) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

३ अमरकोष

४ अर्थशास्त्र (कौटिल्य)

५ अलङ्कारशेखर (केशव मिश्र) निर्णयसागर प्रेस सन् १८९५

६ अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक) जयरथ की विमर्शिणी सहित—निर्णयसागर प्रेस, बंबई सन् १८९३

७ अलङ्कार सूत्र (रुय्यक) समुद्रबन्ध की व्याख्या अनन्तशयन संस्करण सन् १९२६

८ आनन्दवृन्दावन चंपू (कर्णपूर गोस्वामी) मथुरा

९ आश्रमोपनिषद्

१० उज्वलनीलमणि (श्रीरूपगोस्वामी) नि० सा० प्रेस, बंबई

११ उत्तररामचरित (भवभूति)

१२ ऋग्वेद

१३ एकावली (विद्याधर) बॉंबे सस्कृत सीरीज

१४ औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस बम्बई

१५ कठोपनिषद्

१६ कर्पूरमंजरी (राजशेखर) नि० सा० प्रेस, बंबई

१७ कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस, बंबई

१८ कामसूत्र (वात्स्यायन)

१९ काव्यप्रकाश (मम्मटाचार्य) वामनाचार्यकृत बालबोधिनी व्याख्या-निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०१

२० काव्यप्रकाश—श्री गोविन्दठक्कुरकृत प्रदीप और नागेश भट्टकृत उद्योत व्याख्या सहित

२१ काव्यप्रकाश—माणिक्यचन्द्रकृत संकेत व्याख्या

२२ काव्यमीमांसा (राजशेखर) गायकवाड़ संस्करण सन् १९२४

२३ काव्यादर्श (दण्डी) कुसुमप्रतिमा व्याख्या लाहोर द्वितीयावृत्ति

२४ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) निर्णयसा० प्रेस,सन् १९०१

२५ काव्यानुशासन (वाग्भट) निर्णयसागर प्रेस, सन् १९१५

२६ काव्यालङ्कार (भामह) विद्याविलास प्रेस, बनारस

२७ काव्यालङ्कार (रुद्रट) नि०सा० प्रेस, सन् १८८६

२८ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट) भडारकर पूना सन् १९२५

२९ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट) निर्णयसा० प्रेस, सन् १९१५

३० काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) सिंहभूपालकृत कामधेनु व्याख्या-विद्याविलास प्रेस बनारस १९०७

३१ किरातार्जुनीय (भारवि)

३२ कुट्टनीमत (दामोदरगुप्त) निर्णयसागर प्रेस

३३ कुवलयानन्द (अप्पय्यदीक्षित) श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

३४ चन्द्रालोक (पीयूषवर्ष जयदेव) गुजराती प्रिंटिंग बोंबे

३५ चित्रमीमांसा (अप्पय्य दीक्षित) नि०सा० प्रेस

३६ छान्दोग्य उपनिषद्

३७ जसवन्तजसोभूषण (मुरारिदान) मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर

३८ दशरूपक (धनंजय) निर्णयसागर प्रेस

३९ देवीशतक (श्री आनन्दवर्धनाचार्य) नि० सा० प्रेस,

४० ध्वन्यालोक (ध्वनिकार) नि० सा० प्रेस, सन् १८९१

४१ नागरीप्रचारिणीपत्रिका, बनारस

४२ नाट्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) नि० सा० प्रेस, सन् १८९४

४३ नाट्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) अभिनवगुप्तपादाचार्यकृत अभिनव भारती व्याख्या सहित—गायकवाड़ संस्करण

४४ नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)

४५ प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ) बोंबे सीरीज

४६ प्रसन्नराघव नाटक (जयदेव)

४७ प्राचीनलेखमाला, निर्णयसागर प्रेस, बंबई

४८ बालरामायण (राजशेखर)

४९ श्रीभगवद्गीता

५० भक्तिरसायन (श्री मधुसूदन सरस्वती) अच्युतग्रन्थमाला बनारस

५१ भट्टि काव्य

५२ श्रीमद्भागवत

५३ भामिनीविलास (पण्डितराज जगन्नाथ) नि० सा० प्रेस, बंबई

५४ मनुस्मृति

५५ महाभारत

५६ महाभारतमीमांसा (श्री चिंतामणि विनायक वैद्य)

५७ माधुरी पत्रिका, लखनऊ

५८ मालविकाग्निमित्र (कालिदास)

५९ मुण्डकोपनिषद्

६० मेघदूत (कालिदास)

६१ मृच्छकटक (शूद्रक)

६२ यशवन्तयशोभूषण (सुब्रह्मण्य शास्त्री) मारवाड़ स्टेट प्रेस

६३ याग्यवल्क्य स्मृति

६४ रसतरंगिणी (भानुदत्त) बनारस

६५ रसमंजरी (भानुदत्त)

६६ रघुवंश (कालिदास)

६७ रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) नि०सा० प्रेस, सन् १८९४

६८ राजतरङ्गिणी (कल्हण)

६९ वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) ओरियंटल सीरीज कलकत्ता

७० वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) नि०सा० प्रेस, बंबई

७१ वाल्मीकीय रामायण—गोविन्दराजीय भूषण आदि तीन व्याख्या सहित—गुजराती प्रिंटिंग बॉंबे

७२ विक्रमोर्वशीय (कालिदास)

७३ विद्यापीठ पत्रिका, बनारस

७४ वेणीसहार (नारायण भट्ट)

७५ वृत्तिवार्तिक (अप्पय्यदीक्षित) नि०सा० प्रेस, बंबई

७६ व्यक्तिविवेक (महिम भट्ट) निर्णयसा० प्रेस,

७७ श्रृङ्गारप्रकाश (भोजराज) लाप्रिंटिंग मद्रास

७८ शृङ्गारतिलक (रुद्रभट्ट) निर्णयसागर प्रेस,
७९ श्रीकण्ठचरित (मखक) निर्णयसागर प्रेस,
८० श्वेताश्वतरोपनिषद्
८१ शिशुपालवध (माघ)
८२ सस्कृतवाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास (चिन्तामणि विनायक वैद्य)
८३ सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) निर्णयसागर प्रेस, बबई
८४ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) रुचिरा व्याख्या
८५ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) श्रीकाणे सम्पादित नि०सा० प्रेस,
८६ सुभाषितावली (वल्लभदेव)
८७ स्वप्नवासवदत्ता (भास)
८८ हरिभक्तिरसामृत (श्रीरूपगोस्वामी) अच्युतग्रन्थमाला बनारस
८९ हरविजय (रत्नाकर) नि०सा० प्रेस, बबई
९० हिन्दीमेघदूत विमर्श (कन्हैयालाल पोद्दार)

अंग्रेजी के सहायक ग्रंथों की नामावली

1 Bhandarkar, Dr Rama & Homer.
2 Cambridge History of India
3 J. Dahlmann : Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbach
4 B. S Dalal . A History of India
5 S. K. De History of Sanskrit Poetics.
6 Indian Antiquity.
7 James Mill & H H Wilson History of British India.
8 Journal of the Asiatic Society of Bengal
9 Journal of the Royal Asiatic Society.
10 P. V Kane : Introduction to Sahitya Darpan.
11 Lionel D Barnett Antiquities of India.
12 Macdonell History of Sanskrit Literature
13 Max Muller . History of Ancient Sanskrit Literature.
14 Max Muller India what can it teach us.
15 R C Mazumdar Ancient Indian History.
16 R. G An Outline of Ancient Indian History and Civilization.
17 Monier Williams Indian Wisdom
18 Mountstuart Elphinston · The History of India.
19 Oldenberg : Das Mahabharata.
20 Peterson · Kashmir Report.
21 Rameshchandra Dutt . History of Civilization in Ancient India.
22 P C Roy . Translation of Mahabharata.
23 C V Vaidya The Mahabharata A Criticism
24 Vincent A Smith : The Oxford History of India
25 Weber . History of Indian Literature
26 Winternitz . History of Indian Literature.

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	५,१०	हन्तव्या	हन्तव्याः
३०	७	ज्ञेया	ज्ञेयाः
३०	८	ग्राह्या	ग्राह्याः
३३	३	एवं २० वीं	एवं २४ वीं
३८	६	अवतर्यितु	प्रवर्तयितु
३८	६	पुराणादुद्ध्यत्य	पुराणादुद्धृत्य
३८	६	काव्यरसास्वादकरण	काव्यरसास्वादकारण
४३	९	भरते	भरतेन
४३	१३	रसनिबन्धमाननु	रसनिवन्धाननु
४५	२२	नर्तनारभारभटी	नर्तनारम्भारभटी
४६	४	अतउर्द्धं	अतऊर्द्धवं
५७	११	भगवान्	भगवन्
६७	१३	बुद्धैः	बुधैः
७७	१७	नोस्तितीर्षूणा	नौस्तितीर्षूणा
८५	१०	सौकुमार	सौकुमार्य
८५	१२,१६	३४६	३४७
८५	१४	प्रौढि	प्रौढिः
८६	१६	स्त्ववैवा	स्तवैवा
९३	३	स अक्षिप्तो	स आक्षिप्तो
९५	४	स्फुटः	स्फुटाः
९७	१२	योगलक्षणा	योगाल्लक्षणा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८	१४	महाभारतकाल	महाभारतकाल के बाद
१५१	११	दैवगति	दैवगतिः
१६८	८	युजोपरा	युजोऽपराः
१६८	१३	लोचनामवधार	लोचनादवधार
१६९	११	निरूपितः	निरूपिता
१६९	१७	काव्यधर्माऽभिहितः	काव्यधर्मोऽभिहितः
१७१	१७	कवे	कवेः
१७१	१८	झटत्य	झटित्य
१७५	१९	ध्वनिरीति	ध्वनिरिति
१७५	२०	समाम्नतः	समाम्नातः
१९८	१	शेखरमणेवि	शेखरमणेर्वि
२०५	२	एवति	एवेति
२१८	७	भूभृद्भतु	भूभृद्भर्तु
२२४	११	माधुर्योजः	माधुर्यौजः
२३५	१९	अलक या उल्लट	अलक या अल्लट
२७१	११	स्थगितयन्तः	स्थगतयन्तः
२७२	७	रजितानु	रञ्जितानु
२७२	१६	हनूमदाद्यैशसा	हनूमदाद्यैर्यशसा
२८८	१५	मलिनगण्डा	मलिनगण्डाः
२९१	१	व्यसृदना	व्यमृदना
२९१	२	नप्पप्पयया	नप्यप्पया